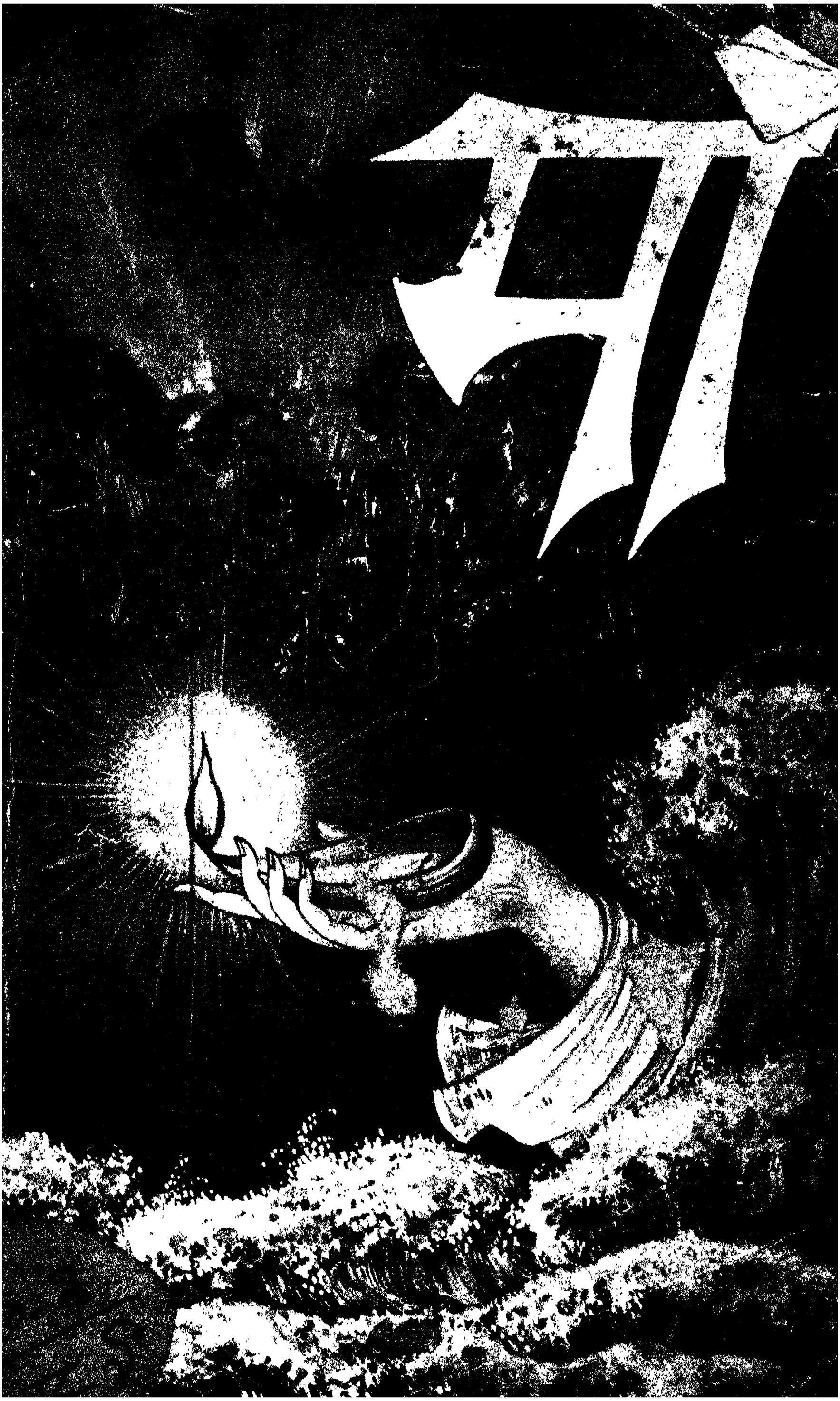


मा

प्रथम पुष्प : फरवरी १९५०

एक द्वैमासिक पत्रिका

जागो, ऐ आत्माओ ! जागो ।
शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है,
अंधकार तिरोहित हो गया है,
ज्योति आविर्भूत हो रही है !

—ऋग्वेद

प्रकाशक :—

"मा" कार्यालय

७, कैनिंग स्ट्रीट, कलकत्ता-१

वार्षिक मूल्य ६)]

[एक प्रति १)

विषय-सूची

चित्र-सूची

१९५०

बातें नहीं, काम करो।

घोषणा नहीं, सिद्धि करो॥

—श्री मां

वंदना

(श्री सुमित्रानंदन पंत)

खोलो, अंतरमयि, खोलो
अपना स्वर्गिक वातायन,
निज स्वर्णिम आभा से भर दो
मेरा स्वप्नों का मन !

नींद सुनेरी भरी दृगों मे
पलकें झंप झंप जातीं,
सुख दुख की स्मृतियां मानस मे
मा, कंप कंप लहराती !

घोर अंधेरी निशा घिरी अब
आओ, शुभ्र उषा बन,
खोलो, मानसि, खोलो अपना
श्रद्धा का वातायन !

दिव्य चेतना का प्रभात नव
बन उर में तेरा मुख,
मौन मधुरिमा से अंतर को
भर दें, डूबें सुख दुख!

नयनो में स्मित नयन भरो सखि,
उठा किरण अवगुंठन,
मेरे अपलक उर में खोलो,
शोभा का वातायन!

मेरे मानस जल में फूटे
उषा ज्योति रक्तोज्वल
फूल मांस के तेरे सुन्दर
चरण कमल बन कोमल!

भर जावे सूने अंतर में
नव भावों का गुञ्जन,
खोलो, आभामयि, खोलो,
निज करुणा का वातायन!

बिखरे फूल

★

भगवान के बिना जीवन दुःखमय धोखा है, भगवान के साथ सब कुछ आनन्द ही आनन्द है।

★ ★ ★

भगवान की ओर मुड़ो, तुम्हारे सारे दुःख-दर्द विलीन हो जायंगे।

★ ★ ★

भगवान की भुजाओं में आश्रय ग्रहण करने से सारी कठिनाइयां हल हो जाती हैं। कारण, उनकी भुजाएं प्रेम के साथ हमें अपनी शरण में ले लेने को सदा खुली हुई हैं।

★ ★ ★

आत्म-जय से बढ़ कर और कोई विजय नहीं है, यही है समस्त सुखों का आधार।

★ ★ ★

अपने सुख के लिए चिन्ता करना दुःखी होने का निश्चिततम उपाय है।

★ ★ ★

केवल भगवान को ही अपने आत्मा का विश्वसनीय साथी बनाओ।

★ ★ ★

केवल भगवान का चिन्तन करो तो भगवान तुम्हारे साथ होंगे।

★ ★ ★

भगवान की सेवा के सिवाय हमें अन्य किसी की सेवा में नहीं रहना चाहिए।

★ ★ ★

भगवान के यहां तुम्हारा उससे अधिक कुछ भी मूल्य नहीं है जितना कि तुम भगवान को दिए होते हो।

★ ★ ★

जो कुछ भगवान को दिया जा चुका है उसको छोड़ कर बाकी कुछ भी सुरक्षित नहीं है।

★ ★ ★

भगवान के चरणों में अपने आप को सच्चे भाव से अर्पित कर देने से ही हम अपने अनगिनत मानवीय दुःख-दर्दों से छुटकारा पा सकते हैं।

★ ★ ★

बिचारे भगवान ! उन्हें न जाने कितने भयंकर-भयंकर कृत्यों का दोषी ठहराया जाता है !

यदि ये आरोप सच्चे होते तब तो भगवान न जाने कितने बड़े दैत्य होते, वे जो वास्तव में करुणामय हैं।

★ ★ ★

हमारे सब विचार, हमारी सारी भावनाएं भगवान की ओर जायंगी, जैसे नदी समुद्र की ओर।

★ ★ ★

भगवान का साक्षात्कार करना, यही हमारे जीवन की एकमात्र आवश्यकता हो जाय।

★ ★ ★

वही संकल्प करना जो कि भगवान का संकल्प है--यही है परम रहस्य।

—*श्री मां*

पीछे हटो

तुममें से अधिकांश अपनी सत्ता की ऊपरी सतह पर निवास करते हैं, बाह्य प्रभावों के प्रति खुले, अरक्षित। तुम मानो अपनी देह से एकदम बाहर निकले, फैले हुए रहते हो और जब उसी भाँति बाहर फैले हुए किसी बेमेल प्राणी से मिलते हो तो विचलित हो जाते हो, अस्तव्यस्त हो जाते हो। इस सारे उपद्रव की जड़ यह है कि तुम्हें पीछे हटने का अभ्यास नहीं है। तुम्हें हमेशा अपने आपमें अन्दर पीछे हट आना चाहिये, अभ्यन्तर की गहराई में पैठना सीखना चाहिये। पीछे हटो और तुम निरापद रहोगे। तुम्हें ऐसा करना है कि बाहरी जगत में गतिशील बाहरी शक्तियां तुम्हें चला न पाय। यदि तुम कोई काम करने की उतावली में हो तो भी कुछ समय के लिए पीछे हट जाओ और तुम यह देख कर अचरज करोगे कि तुम्हारा कार्य कितनी अधिक शीघ्रता और कितनी बड़ी सफलता से सम्पादित होता है। यदि तुम पर कोई क्रोध कर रहा है तो उसके प्रकम्पनों में मत पकड़े जाओ। तुम महज पीछे हट जाओ और उसका क्रोध कोई सहारा या प्रत्युत्तर न पाकर तुम्हारे चरणों में गिर मरेगा। सदैव अपनी शान्ति बनायी रखो, उसे खोने के लिए जितने भी प्रलोभन सामने आवें उनका विरोध करो। पीछे हटे बिना कोई भी निर्णय मत करो, पीछे हटे बिना कोई एक शब्द भी न बोलो, पीछे हटे बिना किसी भी कार्य में मत कूद पड़ो। सामान्य जगत की जितनी सारी चीजें हैं वे अनित्य, क्षणिक और चंचल हैं, अतएव इसमें ऐसी कोई भी बात नहीं जिसके कारण विचलित हुआ जाय। जो कुछ स्थायी, सनातन, अमर और अनन्त है वही पाने योग्य है, वही जीतने योग्य है, वही अधिकृत करने योग्य है। वह है दिव्य भागवत ज्योति, दिव्य भागवत प्रेम, दिव्य भागवत जीवन, वह है परम शान्ति, पूर्ण आनन्द और उस सर्वोपरि मुकुट 'पूर्ण अभिव्यक्ति' के साथ पृथ्वी पर पूर्ण प्रभुत्व। जब तुम्हें चीजों की सापेक्षता का बोध हो जाता है तब तुममें यह क्षमता आती है कि जो कुछ भी होना हो, हो, तुम पीछे हट सको, शांत दृष्टि रख सको, धीर-स्थिर रह सको और भागवत शक्ति की पुकार कर सको और उसके उत्तर की प्रतीक्षा कर सको। तब तुम यह ठीक ठीक जान सकोगे कि क्या करना है। अतएव याद रखो कि जब तक तुम अत्यन्त शांत नहीं हो जाते उसके पहले तुम वह उत्तर नहीं पा सकते। उस आंतरिक शांति का अभ्यास करो, कम से कम एक छोटा सा आरम्भ ही करो और तब तक अपने अभ्यास में लगे रहो जब तक कि वह तुम्हारी आदत न बन जाय।

श्री मां

श्री अरविन्द-पत्रावली—

ज्ञान, भक्ति एवं कर्म

पूर्णयोग का अर्थ

पूर्णयोग का अर्थ यह है कि :—

(१) भगवान के समीप केवल मन (ज्ञान) द्वारा, या केवल हृदय (भक्ति) द्वारा या केवल इच्छा-संकल्प और कर्म (कर्मयोग)) द्वारा जाने के बदले हम अपनी चेतना एवं सत्ताके समस्त अगों और शक्तियों से भगवान की खोज करते हैं, इन तीन मार्गों और कितने ही अन्य मार्गों को एक 'योग' (भगवानसे सयोग प्राप्त करने का मार्ग) में सम्मिलित करते हैं और भगवान को, उनकी उपस्थिति, चेतना शक्ति, ज्योति को और उनके आनन्द को समस्त चेतना एवं सत्तामें ग्रहण करते हैं ;

(२) हम भगवान को केवल अन्तरात्मा और आत्मन में ही नहीं पाना चाहते, वरन् समस्त प्रकृतिमें भी उन्हें सिद्ध करना चाहते हैं, (इसका अर्थ होता है इस निम्नतर मानवीय प्रकृतिको दिव्य आध्यात्मिक प्रकृतिमें परिवर्त्तित करना) ;

(३) हम भगवान को केवल जीवनसे परे (जन्म पाने से छुटकारा पाकर) ही नहीं पाना चाहते, वरन् जीवन के लिए भी चाहते हैं ताकि जीवनके अन्दर भी भगवान सिद्ध हों और जीवन भागवत प्रकृति की अभिव्यक्ति हो जाय ।

३-१०-१९३५ ।

पूर्णयोगकी सर्वग्राही पद्धति—

'स' के प्रश्नका उत्तर यह है कि यह योग केवल भक्ति-योग नहीं है । यह पूर्णयोग है, या, कम-से-कम ऐसा इसका दावा है, अर्थात इस योग में हमें अपनी समस्त सत्ता के सारे अगों को भगवान की ओर मोड़ना होता है । फलतः इस योग में भक्ति के साथ-साथ ज्ञान और कर्म भी आवश्यक हैं और इसके अतिरिक्त इसमें प्रकृति का सम्पूर्ण परिवर्त्तन और पूर्णता के लिए प्रयास भी शामिल हैं ताकि हमारी प्रकृति का भी भागवत प्रकृति से साम्य हो जाय ।

भगवान की ओर केवल हृदय ही को मोड़ना और परिवर्त्तित करना नहीं है, वरन् मन को भी—इसलिये ज्ञान की आवश्यकता है, और कर्म तथा सृष्टि के संकल्प एवं शक्तिको भी—इसलिए कर्मों की भी आवश्यकता है। इस योग में अन्य योगों की पद्धतियां भी ले ली गयी हैं, जैसे पुरुष प्रकृति वाली

बात हो, किन्तु अन्तिम उद्देश्यों में अन्तर है। पुरुष प्रकृति से अलग होता है उसे छोड़ देनेके लिए नहीं, वरन् उसे तथा अपने आप को जान लेने के लिए और प्रकृति का खिलौना मात्र न रहकर उसका ज्ञाता, स्वामी और भर्त्ता बन जाने के लिए। किन्तु ऐसा हो जाने पर भी अथवा ऐसा होने की क्रिया में भी हमें यह सब भगवान को अर्पित कर देना है।

हम ज्ञान से आरम्भ कर सकते हैं, या कर्म से, या भक्ति से, या पूर्णता के लिए आत्म-शुद्धि की तपस्या (प्रकृति का रूपान्तर) से, और बादमें बाकी चीजों को विकसित कर सकते हैं या सब को एक ही साधन-धारा में मिला सकते हैं। सबों के लिए कोई एक नियम नहीं है, यह साधक के व्यक्तित्व और प्रकृति पर निर्भर करता है। समर्पण योग की मुख्य शक्ति है, परन्तु निश्चय ही समर्पण प्रगतिशील होगा ; आरम्भ में पूर्ण समर्पण के लिए इच्छा हो सकती है किन्तु स्वयं पूर्ण समर्पण सम्भव नहीं है—वास्तव में, इसमें समय लगता है। और साथ-ही-साथ यह बात भी है कि साधनाका पूर्ण आवेग भी तभी सम्भव है जब कि समर्पण पूर्ण हो। जबतक ऐसा नहीं होता तब तक वर्द्धमान समर्पण के साथ-साथ निजी प्रयास की भी आवश्यकता रहती है। एक व्यक्ति भागवत-शक्ति का आह्वान करता है और जब एक बार वह शक्ति उसमें प्रविष्ट होना आरम्भ करती है तब पहले तो वह उसके निजी प्रयत्नों को सहारा देती है और बाद में क्रमशः उसकी सारी क्रियाओं को अपने हाथों में ले लेती है परन्तु साधक की अनुमति की आवश्यकता सदैव रहती है। ज्यों-ज्यों वह शक्ति कार्य करती जाती है वह साधक के लिए अन्य आवश्यक प्रक्रियाओं को—ज्ञान, भक्ति, अध्यात्मभावापन्न कर्म तथा प्रकृति रूपान्तर की प्रतिक्रियाओं को—साथ लाती है। यह धारणा गलत है कि इन सबका समागम एक साथ नहीं हो सकता।

३०-८-१९३७।

भगवान के लिए तीन मार्ग

भगवान के पास पहुंचने का एक मार्ग ध्यान है और यह एक महान् मार्ग है। किन्तु यह मार्ग छोटा नहीं कहा जा सकता। अधिकतर लोगों के लिए यह लम्बा और अत्यधिक कठिन होता है, हालांकि यह मार्ग बहुत ऊंचे स्थलपर ले जाता है। भागवत शक्ति का अवतरण होनेसे यह मार्ग छोटा हो सकता है परन्तु इस अवस्था में भी यह जल्दी में डाली हुई नींव ही होती है और इसके बाद इस नींव पर ध्यान को परिश्रम के साथ भवन बनाना पड़ता है। यह मार्ग बहुत अनिवार्य है किन्तु इसके छोटा होनेको कोई बात नहीं है।

कर्म का मार्ग अपेक्षाकृत बहुत सरल है बशर्ते कि कर्म में लगे रहने में मन भगवान को न छोड़ बैठे। लक्ष्य तो भगवान ही हैं, कर्म तो रास्ता भर हो सकता है। कविता आदि से यह लाभ होता है कि अपने अन्तःपुरुष से सम्बन्ध बना रहता है और इस कारण अन्तैरतम से सोधा संस्पर्श पाने की तैयारी में सहायता मिलती है; किन्तु केवल यहीं पर रुक नहीं जाना चाहिए, वरन् वास्तविक वस्तु तक आगे बढ़ना चाहिए। यदि कोई कवि, चित्रकार या साहित्यकार होने की सोचता है, केवल इसलिये कि कवि, चित्रकार या साहित्यकार होना यथेष्ट है तो उसमें यौगिक भावना नहीं रह जाती। इसीलिए मुझे कभी-कभी यह कहना पड़ता है कि हमारा काम योगी होना है, केवल कवि, चित्रकार आदि होना नहीं।

केवल प्रेम, भक्ति, समर्पण और चैत्य-उद्घाटन ही भगवान तक पहुँचने के लिए छोटे मार्ग हैं या हो सकते हैं। क्योंकि, बात यह है कि यदि प्रेम और भक्ति अत्यधिक प्राणिक हो जाय तो सम्भव है कि आनन्दावेश की आशा और विरह, अभिमान, निराशा आदि में खींचातानी चले,—और इन से मार्ग लम्बा हो जाता है, छोटा नहीं; एक टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता बन जाता है, सीधी उड़ान नहीं हो पाती। भगवान की ओर दौड़ होनेके बजाय यह तो अहं के चारों ओर चक्कर काटना हो जाता है।

साधनाके तीन मार्ग

अहं-भाव को देख पाने और उसे दूर करने के प्रयत्न द्वारा तथा चैत्य-क्रिया के द्वारा तुमने जो प्रगति की उसके विषय में मैं समझ-बूझकर गम्भीरता के साथ बोल रहा था। तुम्हारे मार्ग का बहुत जोर से समर्थन करते हुए मैंने लिखा था। हमारे योग में यह मार्ग भक्ति और समर्पण का है, क्योंकि चैत्य-गति से ही अविरल और विशुद्ध-भक्ति हो सकती है तथा अहं-भावको दूर किया जा सकता है जिससे कि समर्पण सम्भव हो जाता है। वास्तवमें, ये दोनों चीजें साथ चलती हैं।

दूसरा मार्ग है ज्ञान का। यह मस्तिष्क में ध्यान करना है। इससे ऊपर का मार्ग खुलता है, मनमें अचंचलता अथवा निस्तब्धता आती है और उच्च चेतना की शक्ति आदि का अवतरण होता है। साधारणतः ऐसा तब तक होता है जब तक कि उस व्यक्ति की सत्ता को वह आच्छादित न कर ले और शरीर में भर कर उस की सारी चेष्टाओं को अपने हाथों में लेना आरम्भ न कर ले। किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि निस्तब्धता के बीच से जाया जाय, साधारण क्रियाओं को एक विशिष्ट रूप में सूनी कर दिया जाय—इन्हें धकेल दिया जाय और केवल बाह्य क्रियाओं की ही भांति किया जाय—और तुम निस्तब्धता तथा सूनेपन को नापसन्द करते हो।

तीसरा मार्ग है कर्मयोग। कर्मयोग के दो मार्गों में से एक मार्ग है पुरुष और प्रकृति का, निश्चल, नीरव अन्तःसत्ता और बाह्य-क्रियाशील सत्ता को एक दूसरे से अलग-अलग कर देना जिससे कि उसे दो प्रकार की चेतनाएं हो जाती हैं या एक साथ ही दो चेतनाएं रहती हैं--एक चेतना तो आगे रहती है और क्रियाशील होती है, दूसरी पीछे रहती है और पहली को देखती रहती है, उसपर निगरानी करती रहती है और अन्त में उस पर अधिकार कर लेती है। परन्तु इसका अर्थ यह भी होता है कि अन्तःशान्ति एवं निश्चल नीरवता में वास किया जाय और क्रियाओं से ऐसा व्यवहार रखा जाय मानो वे ऊपरी सतह की चीजें हैं।

कर्मयोगका दूसरा रास्ता यह है कि हम कर्मों को अपने लिए नहीं, वरन् भगवानके लिए करें, श्री मां के लिए करें--उन्हींको अपने कर्म निवेदित तथा अर्पित करें और अपना यह प्रयत्न तब तक करते रहें जब तक कि ऐसा भान तीव्रता से न होने लगे कि भागवत शक्ति ही हमारे कार्योंको संचालित कर रही हैं और हमारे बदले कर रही हैं।

तुम कहते हो कि मेरे योग में ऐसी कोई गुप्त बात या कुंजी है जिसे तुमने नहीं पाया है। यदि ऐसी कोई चीज है तो वह मेरे इन्हीं मार्गों में है, और वास्तव में केवल स्वयं इन मार्गों में ऐसी रहस्यमयी या असम्भव या कोई नई बात भी नहीं है। इस योग का उद्देश्य, और आगेकी स्थिति पर पहुंच कर और किस तरह विकास हो,—केवल ये ही बातें नई हैं। मानसिक ज्ञान के लिए कोई चाहे, तो और बात है, नहीं तो आरम्भिक दशा में इन सब बातों की जानकारी करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

११-९-१९३५।

कर्मयोग की आवश्यकता

साधना का उद्देश्य है चेतना का भगवान के प्रति उन्मीलन और प्रकृति का रूपान्तर। ध्यान या चिन्तन इस का एक तरीका है—किन्तु यह कई तरीकों में से एक है, भक्ति दूसरा तरीका है और कर्म तीसरा। सिद्धिके लिए प्राथमिक मार्ग योगीगण चित्तशुद्धि को बतलाते थे और इससे उन्हें सन्तोंका सन्तपना तथा साधुओंकी शान्ति मिलती थी, किन्तु जिस प्रकृति-रूपान्तर की बात हम करते हैं वह इन सबसे अतिरिक्त और कुछ है। यह रूपान्तर केवल ध्यान-धारणा, निदिध्यासन से नहीं हो सकता। इसके लिये कर्म आवश्यक हैं, अतः कर्मयोग अनिवार्य है।

१२-१०-१९३४।

कर्म और ध्यान

(१)

इस योग में परम महत्व की बात है, वाह्य-चेतना को भी रूपान्तर में सम्मिलित करना। यह चीज ध्यान से नहीं हो सकती। ध्यान का सम्बन्ध तो केवल अन्तःसत्ता से है। इस कारण कर्म का महत्व मुख्य है परन्तु कर्म सही भाव से और सही चेतना में करने होंगे। ऐसा होने से इनसे भी उतना लाभ मिल सकेगा जितना किसी भी ध्यान से मिल सकता है।

(२)

अकेला कर्म एक तैयारी मात्र है, यही बात ध्यानकी भी है। किन्तु बढ़ती हुई यौगिक चेतना में किया गया कर्म सिद्धि के लिए उतना ही उपर्युक्त मार्ग है जितना कि ध्यान······मैं आशा करता हूं कि मैंने यह नहीं कहा है कि केवल कर्म ही तैयार करता है, ध्यान भी भगवान से सीधा सम्पर्श पाने के लिए तैयार करता है। अगर हमलोग केवल तैयारी के लिए ही कर्म करें और बाद में निष्क्रिय ध्यानस्थ सन्यासी हो जायं तो मेरी सारी आध्यात्मिक शिक्षा झूठी हो जाती है और अतिमानसिक सिद्धि को या भूतकाल में अप्राप्त अन्य किसी वस्तु के प्राप्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती।

इस धारणा के मूल में यह भ्रान्ति है कि या तो कोई कर्म ही करे या ध्यान हो, या तो ध्यान ही वह मार्ग है या कर्म ही, किन्तु दोनों नहीं हो सकते। जहां तक मैं जानता हूं, मैंने यह कभी नहीं कहा है कि ध्यान नहीं किया जाना चाहिए। ध्यान और कर्म के बीच एक खुली या छिपी होड़ का आरम्भ कर देना—यह तो मन की भेद विभाजन करने वाली प्रवृत्ति का खेल है। और, पुराने योगों में यह चीज थी। याद रखो कि मैं बराबर पूर्णयोग के लिये कहता आया हूं। ज्ञान, भक्ति, कर्म—चेतना का प्रकाश, आनन्द और प्रेम, कर्म में इच्छा और शक्ति, ध्यान, पूजा, भगवान की सेवा—इन सबों को इस योग में स्थान मिले हैं। ध्यान कर्मयोग से बढ़कर नहीं है और न ज्ञानयोग से बढ़कर कर्म ही है। दोनों बराबर हैं।

दूसरी चीज यह है कि यह एक गलत बात है कि दूसरों के अनुभवों की अवहेलना कर अपने सीमित अनुभवके आधार पर कोई विवाद करं और इसके सहारे योग के विषय में सबों पर लागू होने वाली बातें कहे। ऐसा करते बहुत लोग हैं परन्तु इसमें प्रगटतः कई दोष हैं। कर्मों के द्वारा प्राप्त बड़ी सिद्धियों का तुम्हें कोई अनुभव नहीं है और इससे तुम यह धारणा कर बैठे हो कि ऐसी सिद्धियां असम्भव हैं। परन्तु उन बहुत से लोगों के बारे में तुम क्या कहते हो, जिन्हों ने आश्रम में और आश्रम के बाहर भी इस मार्ग को अपना कर सिद्धि प्राप्त की है?

तथापि, इससे तुम यह अर्थ मत निकालो कि मैं कर्मको सिद्धिका एकमात्र मार्ग जैसी बड़ी चीज बता रहूं । मैं तो इसे इसका उपयुक्त स्थानभर दे रहा हूं ।

१६-१२-१९३४ ।

प्रार्थना और ध्यान

योग में प्रार्थना और ध्यान से बहुत कुछ होता है । पर यह आवश्यक है कि प्रार्थना का स्रोत हृदय से प्रस्फुटित हो, उसमें भावना और अभीप्सा की लहरें हों ; जप या ध्यान किया जाय तो उनमें भी उनके अन्तर में निहित आनन्द या प्रकाश का सजीव आवेग हो । यदि यह केवल यन्त्रवत् होकर किया जाय या केवल इसलिए किया जाय कि इसे करना चाहिए (एक कठोर कर्त्तव्यकी तरह जिससे कोई आनन्द न मिले) तब निश्चय ही इसमें मन नहीं लगेगा, शुष्कपन आ जायगा और इस का कोई फल नहीं होगा ।.........

तुम्हारे जप के पीछे अत्यधिक अंश में यह चीज थी कि तुम इसे किसी फल की प्राप्तिके लिए एक विधि मान रहे थे । मेरे कहनेका अर्थ यह है कि तुमने इसे एक कार्यसिद्धिके लिए एक निर्धारित उपाय मान रखा था । यही कारण था कि मैं चाहता था कि तुम्हारी मनोवैज्ञानिक दशाएं विकसित हों, मानसिक एवं चैत्य-विकास हों, क्योंकि जब चैत्य-पुरुष आगे रहता है तो प्रार्थना, अभीप्सा तथा उद्योग में आशा और आनन्द की कमी नहीं होती, भक्ति के अविरल स्रोत में कोई कठिनाई नहीं होती और जब मन शान्त रहता है और अन्तर्मुखी एवं ऊर्ध्वमुखी रहता है तब ध्यानमें मन न लगने वाली बात भी नहीं रह जाती है । ध्यान का मार्ग ज्ञान की ओर ले जाता है और ज्ञान मस्तिष्क की वस्तु है, हृदय की नहीं ; इसलिए अगर तुम ध्यान की आकांक्षा करते हो तो तुम ज्ञानसे अरुचि नहीं रख सकते । हृदय में एकाग्र होना ध्यान नहीं, यह तो भगवानके लिए, प्रियतमके लिए पुकार है । यह योग केवल ज्ञान-योग भी नहीं है, ज्ञान इसके कई मार्गों में से एक है । किन्तु इसका आधार है आत्म-देन, समर्पण, भक्ति और इस नाते इसका आधार हृदयमें होता है । इस आधार के बिना अन्त तक कुछ भी नहीं किया जा सकता ।

यहां बहुत से लोग है जिन्होंने जप किया हैं और करते हैं और भक्ति पर आधारित हैं । अपेक्षाकृत, ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं जिन्होंने 'मस्तिष्क' ध्यान किया है । साधारणतः प्रेम, भक्ति और कर्म आधार रहते हैं । ऐसे कितने लोग हैं जो ज्ञान द्वारा बढ़ सकते हैं ? केवल बहुत कम लोग ही ऐसा कर सकते हैं ।

जीवन के अनुभव और कलाकार

(श्री अरविन्द)

काव्य अथवा कला के लिए यह अनिवार्य नहीं कि उनका स्रष्टा अपने व्यक्तिगत जीवन में घटे हुए अनुभवों को ही व्यक्त करे–यह बात वल्कि इतनी स्पष्ट है कि इसे तूल देना अनावश्यक है। देखना तो यह है कि उसकी सृष्टि उसके मन अथवा मनोलोक को कहाँ तक सचाई के साथ उतारती है। स्पष्ट ही, कलाकार का प्राणमय सांचा, उसका व्यक्तिगत चारित्र्य उसकी रचना में बहुत कम हाथ रख सकता है; यहाँ तक कि ये चीजें उससे विपरीत प्रकार की भी हो सकती हैं। कलाकार का स्थूल मन उसके लेखन की प्रकृति को स्थिर करे, यह भी जरूरी नहीं; यह खूब संभव है कि किसी रोमांटिक कवि या कलाकार का स्थूल मानस साधारण आदरणीय मध्यम वर्ग की श्रेणी का ही हो, अपने गल्पों में जो व्यक्ति एक उदार परोपकारी सुधारक के रूप में आशावाद का प्रसन्न अलोक विखराता जान पड़ता है वह वास्तविक जीवन में स्वार्थपर, कठोर, यहाँ तक कि निर्दयी भी हो सकता है। यह सारी बात आजकल अच्छी तरह विदित है और इसके बहुसंख्यक दृष्टान्त हमें बड़े बड़े कवियों और कलाकारों के जीवन में मिल जाते हैं। स्पष्ट है कि कलाकार की आन्तरिक मनोसत्ता में ही हमें उसकी सृष्टि का रहस्य खोजना चाहिए, उसके वाह्य चित्त अथवा वाह्य जीवन में नहीं। फिर, यहाँ भी, किसी कविता या कला-सृष्टि के लिए यह जरूरी नहीं (यद्यपि ऐसा सम्भव हो सकता है) कि वह किसी मनोमय अथवा अध्यात्मिक अनुभव का यथायथ अंकन-मात्र हो, और न यही अनिवार्य है कि जब स्रष्टा का मन सृष्टि के लिए जीवन की किसी ऐसी घटना, प्राणों की किसी ऐसी छाप, भाव या प्रतिक्रिया को ले जो वास्तव में घटी थी तो वे सारी चीजें उसकी सृष्टि के सूत्रपात के साधन होने से अधिक और कुछ हों। कविता का 'मैं' अधिकतर एक नाट्यात्मक 'मैं' अथवा प्रतिनिधि 'मैं' ही होता है, न कम न ज्यादा। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम अपने तर्क में कल्पना की शरण लें और कहें कि सभी कुछ कल्पना-प्रसूत होता है अथवा कल्पना ही अपनी मन-चाही सामग्री का उपयोग करके सृष्टि रचती है। प्रश्न तो यह है कि किसी कवि की कल्पना किसी विशेष सांचे में क्योंकर ढल सकी कि जिससे वह कवि स्रष्टा की हैसियत से केवल उन्हीं लाखों व्यक्तियों से भिन्न नहीं हो बैठा जो स्रष्टा नहीं हैं वल्कि उनसे भी विशिष्ट हो गया जो स्वयं भी कला के स्रष्टा हैं।

इस प्रश्न के दो उत्तर सम्भव हैं।

एक तो यह कि कवि अथवा कलाकार किसी ऐसी सृजनी शक्ति का केवल माध्यम मात्र हो सकता है जो शक्ति उसे अपने आपको व्यक्त करने के साधन के बतौर काम

में लावे और केवल काव्य की व्यंजना को ही अपना लक्ष्य माने, व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व अथवा उसके अन्तर या बाह्य जीवन को नहीं। या दूसरा उत्तर यह है कि चूंकि मनुष्य में बहुत से व्यक्तित्वों का जमघट होता है, चूंकि वह ऐसे नाना व्यक्तित्वों के मेल से बनता है जो ऊपर ऊपर से आपस में जुड़े फसे दीखते हैं परन्तु भीतर ही भीतर एक दूसरे से स्वाधीन होते हैं, इसलिये यह भी खूब सम्भव है कि उसके अन्तर में निवास करने वाला कवि या कलाकार इन अनेक व्यक्तित्वों के समूह में से कोई एक विशेष व्यक्तित्व ही हो और केवल उस विशेष व्यक्तित्व मात्र की आन्तरिक सृजनी-क्रिया से ही सरोकार रखे, उद्देश्य पूरा हुआ नहीं कि वह अवकाश ग्रहण कर ले और उन अन्यान्य व्यक्तित्वों के हाथों में उसे छोड़ बैठे। इन दूसरे व्यक्तित्वों के उनके अपने अपने अनुभवों को वह उद्देश्य-साधन का सामान बना भी सकता है और नहीं भी, यह भी हो सकता है कि वह इन अन्यान्य व्यक्तित्वों के निजी क्रिया-कलापों में हस्तक्षेप करे और उनके रूपों तथा क्रियाओं को अपनी ही परिकल्पनाओं, स्वप्नों या आदर्शों के साथ एकरूप करने का प्रयत्न करे।

सच पूछा जाय तो इन दोनों का मिश्रण ही कवि का निर्माण करता है। वह अपने भीतर कार्य करने वाली सृजनी शक्ति के हाथों का माध्यम बनकर रहता है, अपने आन्तरिक जीवन में से उसने अपने मानस भंडार में जो कुछ संचित किया है, अथवा बाह्य जीवन और बाह्य पदार्थों की जो भी स्मृतियां, जो भी छापें उस भंडार में एकत्र हो गयी हैं, उन्हीं में से वह सृजनी शक्ति अपने लिये उपयुक्त सामग्री चुनती है या उसका उपयोग करती है, अपनी क्षमता या पसन्द के अनुरूप मनचाही कोई भी चीज चुन लेती है और फिर अपने विशेष लक्ष्य के अनुसार उसे गढ़ती या ढालती है। इतना होने पर भी वह शक्ति उसके कवि-व्यक्तित्व ही के भीतर से कार्य करती है, और यह कवि-व्यक्तित्व या तो केवल उस पोरी की तरह होता है जिसमें से आत्मा अपनी स्वर-लहरी फूंके किन्तु स्वर की परिसमाप्ति के साथ ही उससे अपना नाता तोड़ ले, या फिर वह किसी ऐसी सक्रिय शक्ति के समान होता है जिसमें समग्र व्यक्तियों के समष्टिगत प्राणी की ऊपरी सतह के मनोमय संघात और प्राणमय तथा अन्नमय क्रियाकलापों पर भी प्रभाव रखने का सामर्थ्य हो। इस व्यापक संभावना के विशाल क्षेत्र में सैकड़ों प्रकारान्तरों तथा क्रमान्तरों की अभिव्यक्ति के लिए अवकाश रहा करता है; ऐसे किसी एक नियम का विधान नहीं किया जा सकता जो हर दशा में लागू हो सके।

*(श्री अरविन्द का एक पत्र
श्री मोहनलाल वाजपेयी द्वारा अनूदित)*

विद्यार्थियों को एक सलाह

(श्री अरविन्द के भाषणों से संकलित)

(२२ अगस्त सन् १९०७ को जब श्री अरविन्द ने कलकत्ते के बंगाल नेशनल कालेज के प्रिन्सिपल के पद से इस्तीफा दे दिया तब कालेज के अध्यापकों और छात्रों ने अपना हार्दिक दुःख प्रकट करने के लिए एक सभा की और उस सभा में श्री अरविन्द के प्रिय छात्रों ने उनसे कुछ उपदेश देने की प्रार्थना की। उसी प्रार्थना के उत्तर में श्री अरविन्द ने एक छोटा-सा भाषण दिया जिस में उन्होंने नीचे दी हुई सलाह छात्रों को दी थी। आज सारी परिस्थिति बदल जाने पर भी यह सलाह हमारे लिए उतनी ही मूल्यवान् है और इसी लिए हम यहां अपने पाठकों विशेष कर नवयुवक विद्यार्थी पाठकों के लाभ के लिए इसे प्रकाशित कर रहे हैं। सं०)

अभी जो एकमात्र सलाह मैं तुम लोगों को दे सकता हूं वह यही है कि उस कार्य को, उस मिशन को आगे बढ़ाओ जिसके लिए इस कालेज की सृष्टि की गयी थी। इसमें मुझे संदेह नहीं कि अब तक तुम लोगों ने यह समझ लिया है कि आखिर उस मिशन का तात्पर्य क्या है। जब हमने इस कालेज की स्थापना की थी और इसी संस्था की सेवा मे अपना जीवन बिता देने के लिए अन्य सभी कार्यों को, जीवन के अन्य सभी अवसरों को छोड़ दिया था, तब हमने ऐसा इसीलिए किया था कि हमें यह आशा थी कि हम इस सस्था में उस राष्ट्र का, उस नवीन भारत का आधार, केन्द्र देख पायगे जो दुःख और सकट की इस रात के बीतने पर अपना जीवन आरम्भ करेगा, गौरव और महानता के उस दिन को जीवनारम्भ करेगा जब भारत संसार के लिए कार्य करना आरम्भ करेगा। हम यहां तुम्हें विभिन्न विषयों का थोड़ा थोड़ा परिचय मात्र देना नहीं चाहते, हम तुम्हारे जीवन को इस योग्य भी बनाना नहीं चाहते कि तुम अपनी जीविका अर्जन कर सको, बल्कि हम तुम्हें मातृभूमि की ऐसी संतानें बनाना चाहते हैं जो उसके लिए कार्य करें और दुःख सहें। इसी उद्देश्य से इस कालेज की स्थापना की गई थी और मैं चाहता हूं कि तुम लोग भविष्य में इसी कार्य में अपना जीवन उत्सर्ग कर दो। जिस कार्य को हमने अपर्याप्त और अपूर्ण रूप में आरम्भ किया है उसे ही पूरा करना और पूर्णता की ओर ले जाना तुम्हारा काम है। जब मैं वापस आऊं तब मैं तुम में से कुछ लोगों को धनी देखना

चाहता हूं, पर स्वयं तुम्हारे लिये धनी देखना नहीं चाहता, बल्कि इसलिये धनी देखना चाहता हूं कि तुम अपने धन से अपनी मातृभूमि को समृद्ध बना सको। मैं तुममें से कुछ लोगों को महान् देखना चाहता हूं, पर तुम्हारे अपने लिए नहीं, तुम्हारे अपने मिथ्याभिमान को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं, पर भारत के लिए, भारत के महान् बनने के लिए, पृथ्वी के अन्य राष्ट्रों के बीच अपना सर ऊंचा करके खड़ा होने की उसे क्षमता प्रदान के लिए, वैसी क्षमता के प्रदान के लिए जैसी क्षमता उसमें प्राचीन युगमें उस समय थी जब कि सारा जगत् उसकी ओर प्रकाश के लिए ताका करता था, इसके लिए तुम्हें महान् देखना चाहता हूं। यहां तक कि जो लोग गरीब और अंधे बने रहेंगे, उनकी उस गरीबी और अंधता को भी मातृभूमि को सेवा में लगा हुआ मैं देखना चाहता हूं।

राष्ट्र के इतिहास में कभी-कभी ऐसा समय आता है जब विधाता उसके सामने एक कार्य, एक उद्देश्य रख देते हैं जिसके लिए बाकी सब कुछ, चाहे वह सब कुछ अपने आप में कितना ही ऊंचा और महान् क्यों न हो उत्सर्ग कर देना होता है। वैसा ही एक समय आज हमारी मातृ-भूमि के लिए उपस्थित हुआ है और इस समय उसकी सेवा से अधिक प्रिय और कोई चीज नहीं है और आज उसी उद्देश्यकी सिद्धि में बाकी सब कुछ नियुक्त कर देना होगा। तुम इसलिए अपनी जीविका का उपार्जन करो कि उसके लिए जीवित रह सको, तुम इसलिए बाहर विदेशों में जाओ कि तुम ऐसे ज्ञान के साथ वापस आ सको जिससे तुम उसकी सेवा कर सको। तुम उसे समृद्ध बनाने के लिए कर्म करो, उसे आनन्द देने के लिए दुःख-कष्ट झेलो। सब कुछ बस इसी एक सलाह के अंदर आ जाता है। तुम्हारे लिए मेरी अंतिम वाणी बस यही है कि अगर तुम्हें मेरे लिए कुछ सहानुभूति हो तो मैं यह देखने की आशा करता हूं कि वह सहानुभूति महज मेरे व्यक्तित्व के लिए नहीं होगी बल्कि जो कुछ मैं कर रहा हूं उसके लिए होगी। मैं इस सहानुभूति को कार्य में परिणत होती हुई देखना चाहता हूं जिसमें कि भविष्य में जब कभी मैं तुम्हारे गौरवपूर्ण कार्य के जीवन पर दृष्टि डालूं तो यह स्मरण कर मैं गर्वका अनुभव करूं कि उस कार्य की तैयारी के लिए और उसे आरम्भ करने के लिए मैंने भी कुछ किया था।

शारीरिक शिक्षण

(श्री अरविन्द)

[आज से एक वर्ष पहले श्री अरविन्द-आश्रम की ओर से शारीरिक शिक्षण समाचार-पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। उस अवसर पर श्री अरविन्द ने एक सन्देश दिया था। यह सन्देश एक ऐसे विषय पर है जिस में जनसाधारण की रुचि बढ़ रही है और जिसे सब आसानी से समझ सकते हैं। श्री अरविन्द की अन्य सारी चीजों की भांति उनका यह सन्देश भी केवल सामयिक उपयोगिता नहीं रखता वरन् काल की पकड़ से परे शाश्वत सत्य को प्रदर्शित करता है। अपने पाठकों के सामने हम वह सन्देश रख रहे हैं।

—सं०]

आश्रम के 'शारीरिक-शिक्षण-समाचार-पत्र' के इस अंक के प्रकाशन के सुअवसर पर मैं इस पत्र तथा संघ (श्री अरविन्द आश्रम युवक क्रीड़ा संघ) को आशीर्वाद देता हूं। ऐसा करता हुआ, मैं ऐसे संघों के अस्तित्व के मूल कारणों पर विचार करना चाहता हूं, विशेषतः इनके व्यापक संगठन की, और जैसे खेल या शारीरिक व्यायाम इस आश्रम में किए जाते हैं उनकी राष्ट्रके लिए आवश्यकता और उपयोगिता पर। अपने ऊपरी बाहरी रूप में ये केवल ऐसे खेल-कूद और आमोद-प्रमोद लगते हैं जिन्हें लोग या तो मन बहलाव के लिए अपनाते हैं, या शारीरिक शक्ति के और क्रियाशीलता की सहज प्रवृत्ति के निकास के क्षेत्र के रूप में, या शरीर के स्वास्थ्य और बल को बनाए रखने और उनकी वृद्धि करने के साधन के तौर पर। किन्तु, ये खेल-कूद आदि इससे अधिक और बहुत कुछ हैं या हो सकते हैं; ये ऐसे अभ्यासों, सामर्थ्यों और गुणों के विकास के क्षेत्र हैं जो कि किसी भी जातिके लिए युद्ध में या शान्ति में, और उसके राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यों में, इतना ही नहीं, मानवों के सम्मिलित प्रयत्नों के अधिकांश क्षेत्रों में भी अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी हैं। इस विषय के इसी पहलू को जिसे हम राष्ट्रीय पहलू कह सकते हैं, मैं विशेष प्रमुखता देना चाहता हूं।

वर्त्तमान समयमें खेल-कूद और व्यायामों को विशेष स्थान प्राप्त है और इनमें सर्वसाधारण की खास रुचि है। ऐसी बात केवल प्राचीन समयमें ही यूनान जैसे देशों में पायी जाती थी—वह यूनान जहां मानव की क्रियाशीलता के सब पहलुओं का समान रूप से विकास किया जाता था और दंगल, रथ-दौड़ तथा अन्य व्यायामों का शरीर

की दृष्टिसे उतना ही महत्व था जितना कि मानस के लिए कला, कविता और नाटक का। और वहां 'सिटी स्टेट' के नागरिक राज्याधिकारीगण इन सब को विशेष रूप से प्रोत्साहन देते थे और इनमें उपस्थित रहते थे। यह यूनान ही था जिसने प्रत्येक चार वर्षों पर होनेवाले खेलोंके उत्सव से 'ओलिम्पियद्' संस्था बनायी और हालमें इस संस्था के उत्सवोंका फिर से प्रचलित होना प्राचीन भावना के जाग्रत होनेका महत्वपूर्ण चिह्न है। इस प्रकार की रुचि हमारे देश में भी कुछ हद तक फैल गयी है और भारतने ओलिम्पिक जैसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में एक स्थान बनाना आरम्भ किया है। स्वतन्त्र भारत की नई-नई स्थापित सरकार भी राष्ट्र के जीवन के सब पहलुओं का विकास करने में ध्यान देने लग रही है और ऐसी सम्भावना है कि जो क्षेत्र पहले व्यक्ति की निजी चेष्टा के भरोसे छोड़े हुए थे उन क्षेत्रों में भी वह क्रियात्मक भाग लेगी, और उनके लिए आदेश-निर्देश देनेकी आदत डालेगी। उदाहरण के तौरपर, वह राष्ट्र के स्वास्थ्य और क्षमता की नींव डालने और उनकी रक्षा करने का, और इस विषय का महत्व सर्वसाधारण में प्रचार करने का प्रश्न अपने हाथ में ले रही है। इसी दिशा में खेलों, व्यायाम-संघों तथा इस प्रकार के सारे कार्यों में प्रोत्साहन से अधिक सहायता मिलेगी। बचपन, जवानी और आरम्भिक प्रौढ़ता में ऐसे व्यायामों में भाग लेने की आदत यदि जनता में आम तौर पर फैल जाय तो शारीरिक स्वास्थ्य, बल और पराक्रम से युक्त जाति का निर्माण करने में इससे अतीव सहायता मिलेगी।

किन्तु, शरीर के स्वास्थ्य-बल और सामर्थ्य की नींव डालने की आवश्यकता चाहे कितनी ही हो उससे भी ऊंचे महत्वकी चीज है अनुशासन, साहस और ठोस तथा ओजस्वी चरित्रका विकास, और इस प्रकार के विकास में ये खेल-कूद आदि सहायता दे सकते हैं। ऐसे कितने ही खेल हैं जो इस विकासके लिए अत्यन्त मूल्यवान होते हैं क्योंकि वे खेल-कूद, शूरता, साहस, पराक्रम-कार्य और वैयक्तिक चेष्टा उपक्रम के गुणों के निर्माण में सहायता करते हैं और इन गुणों का आना अनिवार्य तक भी कर देते हैं या वे खिलाड़ियों से कुशलता की, संकल्प की दृढ़ता या शीघ्रता से निर्णय और क्रिया करने की शक्ति की, अवसर पड़ने पर जो कुछ करना है, उसे सहजता से देख पाने और वैसा करनेकी दक्षता की, इन सब गुणों की मांग करते हैं। इनसे एक और जिस चीज का विकास होता है वह है शरीर की तत्वगत और सहज चेतनाका जागरण और यह एक बहुत अधिक मूल्यवान विकास है। यह चेतना मानसिक विचार का जरा भी संकेत पाये बिना अपने आप ही सब कुछ देख सकती है कि क्या करना जरूरी है और फिर वैसा कर भी सकती है। शरीर में यह चीज वैसी ही है जैसी कि मन में द्रुत अन्तर्दृष्टि और चित्त में सहज स्फूर्त्ति तथा द्रुत निर्णय की शक्ति। और हम यह बात भी जोड़ सकते है कि इससे शरीर में ऐसी क्षमता आती है कि वह विशेषतः

सम्मिलित उद्योगों में, समस्वर और ठीक चेष्टाएं कर सके, शारीरिक श्रम का व्यय कम हो, और बल स्फूर्ति का अपव्यय न हो। 'मार्च' या 'ड्रिल' जैसे व्यायामों के फल-स्वरूप यह क्षमता आती है और वह क्षमता व्यक्ति के न सधे हुए शरीर की शिथिल और लड़खड़ाती, असमस्वर या अव्यवस्थित, या शक्तिका अपव्यय करनेवाली चेष्टाओं का स्थान ले लेती है।

इन क्रीड़ाओं का एक और अमूल्य फल मिलता है। वह है उस चीजका विकास जिसे हम 'खिलाड़ी-भावना' कह सकते हैं। प्रिय हास्य और सब के प्रति सहिष्णुता और सम्मान का भाव, प्रतियोगियों और प्रतिस्पर्धियों के प्रति सद्‌भाव और सौहार्द, आत्म-सयम और खेल के नियमों का सावधानतापूर्ण पालन, खेलों को न्याय नियमपूर्वक खेलना और अनुचित उपायों को काम में लाने से दूर रहना, विजयी प्रतियोगियों के प्रति कटुता, रोष या दुर्भावना को अपने में न आने देते हुए हार और जीत को समभाव से स्वीकार करना, नियुक्त न्याय-कर्ता, निर्णायक या पंच (रेफरी) के फैसलों को विश्वास के साथ स्वीकार कर लेना--ये सारी चीजे इसी' खिलाड़ी-भावना' के अन्दर आती हैं। इन गुणों का महत्व केवल खेलों, क्रीड़ाओं ही के लिये नहीं है वरन् सामान्य रूप से समूचे जीवन के लिए है, किन्तु इनके विकास में खेलों से सीधी, प्रत्यक्ष और अमूल्य सहायता मिलती है। यदि ये केवल व्यक्ति ही के जीवन में नहीं, बल्कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी, जहां कि आज वैर-विरोधों की प्रवृत्तियां बहुत अधिक बलवती हो फैली हुई हैं, अधिक प्रचलित किए जा सकें तो हमारे इस पीड़ित जगत में जीवन अधिक सुखकर हो जायगा और जगत् को आज जिस मेल-मिलाप और सौहार्द की बहुत अधिक आवश्यकता है उसके आने की अधिक सम्भावना हो जा सकती है।

इनसे भी अधिक महत्व को चीज है अनुशासन, आज्ञापालन और व्यवस्था का अभ्यास तथा दल में मिल कर काम करने का अभ्यास जो कई खेलों के लिए आवश्यक रहते हैं। क्योंकि इन अभ्यासों के बिना सफलता का मिलना अनिश्चित या असम्भव होता है। जीवन में, विशेषतः राष्ट्रीय जीवन में ऐसे कितने ही कार्य हैं जिनमें सफलता के लिए, सघर्ष में विजय के लिए, या अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए सामूहिक कार्य में नेतृत्व कर सकने और नेता की आज्ञा का पालन कर सकने की क्षमता आवश्यक होती है। नेता या कप्तान का कार्य, उसके नेतृत्व का बल और कौशल, आदेश देने को उसकी योग्यता और उसके अनुयायियों का उसमें विश्वास और उनका तत्पर आज्ञापालन, ये चीजें सब प्रकार के सामूहिक कार्यों या उद्योगों के लिए बहुत अधिक महत्व की हैं। किन्तु, ऐसे लोग बहुत कम होते हैं जो स्वयं दूसरों के साथ एक मन और एक शरीर हो आज्ञापालन तथा काम करने का अभ्यास डाले बिना इन गुणों का विकास कर सकें। शिक्षण की ऐसी कठोरता, अनुशासन

और आज्ञापालन की यह आदत वैयक्तिक स्वाधीनता से असंगत नहीं, बल्कि प्रायः वह उसके उचित उपयोग के लिए अनिवार्य शर्त्त होती है, जिस प्रकार कि नियम व्यवस्था स्वाधीनता से असगत नहीं वरन् स्वाधीनता के उचित उपयोग के लिए तथा उसकी रक्षा और दीर्घ-जीवन तक के लिए भी आवश्यक होती है। हर प्रकार के सम्मिलित कार्य में यह नियम अपरिहार्य है, लयताल का मेल आवश्यक होता है, ऐसी संगीतगोष्ठी को कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकती जिसमें गाने-बजाने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी मौज के अनुसार गावे बजावे और अपने नायक के निर्देशों को मानने से इन्कार करे। आध्यात्मिक विषयों में भी यही नियम ठीक बैठता है, जो साधक गुरु के पथ-प्रदर्शन को अवहेलना करता है और नौसिखिए को अशिक्षित प्रेरणाओं को अधिक पसन्द करता है वह ठोकरों से नहीं बच सकता और न उन दुःसंकटों से ही बच पाता है जो बहुधा आध्यात्मिक सिद्धि के पथ को सब ओर से घात में घेरे रहते हैं।

खेलों से मिलने वाले शिक्षण से जो अन्य लाभ उठाए जा सकते हैं उनका उल्लेख करने या राष्ट्रीय जीवन में उनकी उपयोगिता पर विचार करने की मुझे आवश्यकता नहीं, जो कुछ मैंने ऊपर कहा है वह पर्याप्त है। खैर, कम-से-कम हमारे जैसे स्कूलों में और विश्वविद्यालयों में अब खेल-कूदों का एक सर्वसम्मत और अनिवार्य स्थान है, इसका कारण यह है कि मन की ऊंची से ऊंची और पूर्ण से पूर्ण शिक्षा भी शारीरिक शिक्षण के बिना अधूरी रहती है। ऊपर मैंने जो गुण बताए हैं वे जहां बिल्कुल ही न हों या अपर्याप्त मात्रा में हों वहां दृढ़ वैयक्तिक संकल्प या राष्ट्रीय संकल्प से भी उनका निर्माण किया जा सकता है, किन्तु उनके विकास में खेल-कूदों से जो सहायता मिलती है वह बहुत सीधी और प्रत्यक्ष है, और किसी भी प्रकार नगण्य नहीं। हमारे आश्रम में इन पर जो ध्यान दिया जाता है उसके समर्थन के लिए यह पर्याप्त कारण है, और यद्यपि अन्य कारण भी हैं, उनका यहां वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए इनका क्या महत्व है और उनसे उत्पन्न या विकसित होने वाले गुणों की क्या आवश्यकता है, यहां मुझे इतने ही से मतलब है। जिस राष्ट्र में ये गुण अति प्रचुर मात्रा में हों, वह राष्ट्र विजय, सफलता और महानता के लिए सबसे अधिक शक्तिशाली हो सकता है, और साथ ही मानव जाति की जिस एकता और अधिक सामजस्यपूर्ण विश्व-व्यवस्था की ओर हम मानवता के भविष्य के लिए आशाभरी दृष्टि से देख रहे हैं उसके निर्माण में भी वह सबसे अधिक समर्थ योग-दान दे सकता है।

अमर प्रेम

(श्री अरविन्द की कविता का अनुवाद)

प्यार किया होता यदि तुझ से
क्योंकि तिहारा गात सुवर्ण,
हृदय बसाया होता तेरा
बदन-सुमन गुलाबी वर्ण.

या केशों की चमक-दमक तव
मणि—मुक्ता— आभा—हारी,
तो संभव था मम प्रेम-विनाश,
सुन्दर रूपिणि हे नारी!

प्यार किया होता यदि तेरे
पुण्य शील यौवन के जन्य,
स्नेह-स्निग्ध तव कोमल वाणी
सत्य-परायणता तव धन्य,

तेरी विगलित करुणा-धारा,
कोमल हृदया हे नारी!
तो संभव था कर पीछा काल
ग्रस लेवे प्रीति हमारी।

प्यार किया है तुझ से सचमुच
तेरे आपे के कारण,
फ़ांस लिया है तुझ को सचमुच
अपने आपे से कण कण;

अमर अमर बिच नाता जोड़ा.
परिवर्त्तन से हुआ अतीत;
सब प्रकार से अब प्रस्तुत हूं
काल बली पर पाने जीत।

(श्री रामकृष्ण)

एकांकी नाटक—

भविष्य की ओर

●

[एक एकांकी नाटक जो किसी भी देश में वहां की रीति-नीति के अनुसार ब्यौरे में थोड़ा-सा परिवर्त्तन करके खेला जा सकता है ।]

●

पात्र :

वह (महिला)

●

कवि	चित्रकार
पारदर्शी गायिका	सहेली

● ●

[पर्दा उठता है। वह अपनी साथ की पढ़ी एक सहेली के साथ आसपास सोफेपर बैठी है।]

वह—तुम ने बड़ा अच्छा किया जो इतने समय के बाद तुम मुझ से मिलने आयीं······। मैं तो समझती थी कि तुम मुझे भूल ही गयी ।

सहेली–बिलकुल नहीं, पर मुझे तुम्हारा कोई पता ही नहीं था और न यही मालूम था कि कहां तुम्हारा पता मिल सकता है। अब जब कि मैं तुम्हें फिर से देख रही हूं, कितना आश्चर्य हो रहा है मुझे! तुम और विवाहिता?······कितनी विचित्र बात है! मुझे तो इस बात पर विश्वास ही नहीं होता!

वह—स्वय मुझे भी इस बात पर विश्वास करने में कठिनाई होती है।

सहेली—मैं जानती हूं·········कितने व्यंग के साथ तुम विवाह को "व्यय और उत्पादन की सहयोग-समिति" कहा करती थी, यह मुझे याद है ; और फिर यह भी याद है कि उन सब चीजों के लिए तुम्हारे मन में कितनी घृणा थी जो मानव-पशुता को, मनुष्य में रहने वाले पशु को प्रदर्शित करती हैं। वह भाव-भंगी भी खूब याद है जिस से तुम कहा करती : हम स्तनधारी पशु न बनें··· ।

वह—हां, मुझे बराबर ही प्रचलित विचारों और सामाजिक प्रथाओं की खिल्ली उड़ाने में मजा मिलता था। पर तुम्हें न्याय के खातिर यह बात तो स्वीकार

करनी ही होगी कि मैंने कभी सच्चे प्रेम के विरुद्ध कोई बात नहीं कही, उस प्रेम के विरुद्ध जो एक गभीर आंतर साहश्य के कारण उत्पन्न होता है और जो अपने साथ विचारों और अभीप्साओं की समानता, तद्रुपता ले आता है। मैं बराबर ही एक ऐसे महान् प्रेम में हिस्सा बंटाने का स्वप्न देखा करती थी जो सब प्रकार की पाशविक क्रियाओं से खाली हो, एक ऐसी चीज हो जो उस महान् प्रेम को स्थूल रूप में प्रकट कर सके जो सभी जगतों के मूल में विद्यमान है। इसी स्वप्न के कारण मेरा विवाह संभव हुआ है। परन्तु मेरा अनुभव उतना सुखकर नहीं रहा। मैंने प्यार किया है, बहुत अधिक बड़ी सचाई और तीव्रता के साथ, परन्तु बदले में मेरे प्रेमने वह चीज नहीं पायी जिस की उसने आशा की थी ......।

सहेली— मेरी बिचारी सहेली !

वह— ओह ! मैं यह सब तुमसे इसलिये नहीं कह रही हूं कि तुम इस के लिये हमदर्दी और दया दिखाओ। मैं दया की पात्र नहीं हूं ; अभी यह ससार जैसा है उस में मेरे स्वप्न का कार्यतः पूरा होना सभव नहीं। इस के संभव होने के लिये मानव-प्रकृति को बहुत कुछ परिवर्तित होना होगा ! जो हो, मेरे पतिदेव और मैं, हम दोनों बड़े अच्छे साथी हैं, यद्यपि यह बात हम दोनों को अपने-अपने स्थान में एकदम एक दूसरे से पृथक्, बिलकुल अकेला-अकेला अनुभव करने में भी वाधा नहीं देती। पारस्परिक आदर-भाव और एक दूसरे को दी हुई स्वतंत्रता एक प्रकार का सामंजस्य उत्पन्न करती है जो जीवन को बिलकुल सहज-सरल-कामचलाऊ बना देती है ; पर क्या यही सुख है ?......

सहेली बहुतों के लिये तो शायद यही सुख है।

वह सच है, पर कभी-कभी-कभी मैं अपने जीवन को कितना खाली-खाली अनुभव करती हूं ! संभवतः इसके खालीपन को भरने के लिये ही मैंने अपने आप को पूर्णरूप से और पूरी सचाई के साथ उस अद्भुत कार्य में दुःखी मनुष्यों की सहायता करने, उन्हें अपनी क्षमताओं के प्रति, अपने सच्चे लक्ष्य के प्रति और अपने अन्तिम रूपांतर के प्रति जागृत करने के कार्य में नियुक्त कर दिया है और यह कार्य मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

सहेली— मैं देख रही हूं कोई सामान्य नहीं, कोई महान चीज तुम्हारे जीवन को परिचालित कर रही है। परन्तु मैं यह नहीं जानती कि वह किस तरह की चीज है और इस कारण वह मुझे वल्कि रहस्यपूर्ण मालूम हो रही है।

वह— निस्सदेह, तुम्हें जरा समझाकर कहने की जरूरत है। मैं विस्तारके साथ तुमसे बातें करूंगी, पर उसमें समय लगेगा। अच्छा, अगर मैं तुम्हारे घर पर आऊं ? क्या कहती हो ?

सहेली—यह तो बड़ी अच्छी बात है, इससे अधिक खुशी की बात मेरे लिये और क्या हो सकती है? पर तुम कब आ रही हो? आज ही न? ठीक?……

वह—हाँ, बड़ी खुशी से। मुझे लोगों को वह अपूर्व शिक्षा बताने में बहुत अधिक प्रसन्नता होती है जो हमारे जीवन को परिचालित और हमारे संकल्प को संचालित करती है। अभी इस समय मुझे कुछ छोटी-मोटी चीजों को जचा कर रख देना है जिसमें मेरे पति जब घूमकर वापस आवें तब प्रत्येक चीज तैयार पायें। और जैसे ही वह अपने काम में लग जायगे वैसे ही मैं बाहर जा सकूंगी और फिर मैं आकर तुमसे मिलूंगी।……

सहेली— बहुत अच्छा, नमस्कार, जल्दी आना।

[वह अपनी सहेली के साथ पर्द के पीछे दरवाजे तक जाती है। फिर वह पीछे लौट कर लिखने की मेज के पास आती है, कुछ कागजों और पुस्तकों और लिखने के लिये जरूरी सामानों को यथास्थान ठीक से सजाकर रखती है। एक फूलदान में कुछ फूल रखकर वह उसे मेज पर रखती है और फिर चारों ओर नजर दौड़ाकर यह देखती है कि कहीं कोई चीज छूट तो नहीं गयो है। उसी समय दरवाजे के ताले में एक कुञ्जी घूम जाती है।]

वह—वह आ गये। (कवि प्रवेश करते हैं, वह बड़े प्रेम के साथ उनके समीप चली जाती है।) क्यों, सैर अच्छो हुई तो? ·····

कवि—(अन्यमनस्क भाव से) हाँ, धन्यवाद। (वह अपनी टोपी एक कुर्सी पर रख देते हैं। मैंने अपनी कविता की अन्तिम पंक्ति पा ली है। टहलते समय ही वह पंक्ति मेरे मन में आ गई थी। निश्चय ही खुली हवा में थोड़ा घूमने फिरने से अन्तःप्रेरणा प्राप्त करने में सहायता मिलती है। हाँ, मैं समझता हूं, उस तरह यह बिल्कुल ठीक होगा, मैं जयगान के साथ, विजय-मंत्र के साथ, उस मनुष्य के गौरव-गान के साथ समाप्त कर रहा हूं जो विकसित हो चुका है और जो अपने मूल की चेतना के साथ-साथ उन सब चीजों का, जिन्हें प्राप्त करने में वह समर्थ है पूरा-पूरा ज्ञान और उन्हें प्राप्त करने की शक्ति पा चुका है; मैं उसका वर्णान इस प्रकार कर रहा हूं कि वह मिलन की सुखद ज्योति के अन्दर पार्थिव अमरत्व की विजय की ओर अग्रसर हो रहा है। यह बड़ी ही सुन्दर कविता होगी और वास्तव में सार्वभौमिक होगी, क्यों ठीक है न? अब वह समय आ गया है जब कला को अब और कुरूपता और पराजय की व्याख्या—चित्रण नहीं रहना चाहिये······कितने आनंद का वह दिन होगा जब काव्य, चित्रकला, संगीत आदि केवल सौंदर्य, विजय और आनंद को ही अभिव्यक्त करेंगे और इस तरह उस मार्ग को खोल देंगे जो भावी सिद्धियों की

और, उस जगत् के आगमन को ओर ले जाता है जिसमें मिथ्यापन और दुःख कष्ट, कुरूपता और मृत्यु के लिये अब कोई स्थान नहीं रह जायगा……। परंतु इस बोच, अभी भी कैसी-कैसी विपदाएं, कितना अधिक दुःख-कष्ट और शोक-संताप और कड़ुआ सूनापन मनुष्य के लिये तैयार हैं! बड़ी भयंकर स्थिति है! प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना बोझ है, और चाहे वह उसे स्वीकार करे या न करे, उसे वह वहन करने के लिये बाध्य है। (वह अपने विचारों में डूब जाते हैं।)

वह—(प्रेमपूर्वक समीप आकर उनकी बांहोंपर अपना हाथ रखती हुई) आइये, बस, काम शुरू कर दीजिये, आप जानते ही हैं कि उदासी दूर करने के लिये यह सब से अच्छा उपाय है। मैं आपको आप की अंतःप्रेरणा के हवाले कर दूंगी। मैंने अपनी सहेली से वादा किया था कि आज मैं उसके पास जाऊंगी और तीसरा पहर उसी के साथ बिताऊंगी और उसे थोड़ी-सी वह अपूर्व शिक्षा सुनाऊंगी जो हमारे जीवन को परिचालित करती है। हम निश्चय ही उन पृष्ठों का कुछ अंश एक साथ पढ़ेंगी जो गंभीर सत्य से भरे हुए हैं। उन सब चीजों पर मनन करना हम दोनों के लिये बड़ा आनंददायी है। वे ऐसी चीजें हैं जो बहुत से लोगों के विचारों को पलट देंगी—नहीं? लोगों का यह एक विश्वास है कि स्त्रियां केवल साज-बाज, कपड़े-लत्ते और गहनों की बातें करने में ही पटु होती हैं। साधारण तौरपर यह ठीक भी है। अधिकांश औरतें कम-से-कम ऊपर से देखने में, बड़ी ओछी होती हैं। क्योंकि, अधिकांश क्षेत्रों में यह ओछापन अपने पीछे एक भारी हृदय को छिपा रखता है, अत्यंत असंतुष्ट जीवन के ऊपर यह एक पर्दे का काम करता है। बिचारी औरतें, मैं ऐसी बहुतों को जानती हूं जो सचमुच में दया की पात्री हैं।

कवि—तुम बिलकुल ठीक कहती हो। औरतें बड़ी दया की पात्र हैं, प्रायः सब-की सब संरक्षता की अपेक्षा रखती हैं और उन नन्हीं-नन्हीं कमजोर डोंगियों की तरह हैं जिन को कि तूफान में आश्रय ग्रहण करने के लिये बंदरगाह नहीं। अधिकांश औरतों को वह शिक्षा नहीं प्राप्त होती जो उन्हें अपनी रक्षा करना सिखावे।

वह—बिलकुल सच है; इसके अतिरिक्त उन में जो सब से अधिक शक्तिशाली होती हैं उन्हें भी रक्षक प्रेम की, एक ऐसी शक्ति को गहरी आवश्यकता होती है जो उनके लिये सर्वसमर्थ हो और जिसने अपनी सुखदायी मिठास से उन्हें ऊपर से और चारों ओर से घेर रखा हो। इसी चीज को वह प्रेम के अंदर खोजती है और जब वह उसे सौभाग्यवश पा जाती है तब वही उसे जीवन में एक प्रकार का विश्वास प्रदान करती है और उसके सामने सब प्रकार की आशाओं का दरवाजा खोल देती है। उसके बिना यह जीवन उसके लिये एक ऊसर रेगिस्तान होता है जो स्वयं जलता है और हृदय को सुखा देता है।

कवि—ओह! कितने अच्छे ढंग से तुम ये सारी बातें कह रही हो, तुम उस व्यक्ति की तरह इन्हें कह रही हो जिसने स्वयं बड़ी तीव्रता के साथ इन्हें अनुभव किया हो। मैं अपनी दूसरी पुस्तक के लिये इन्हें लिख रखूंगा जो स्त्रियों की शिक्षा के विषय पर होगी। बहुत अच्छा, अब मैं अपना काम आरम्भ करता हूं।

वह—ठीक है, अब मैं जाती हूं, नमस्कार। (वह एक पुस्तक लेती है और बाहर चली जाती है।)

कवि—(वह अपनी मेज पर बैठे हैं और अपने काम की सभी चीजों को वहां तैयार देख रहे हैं।) बराबर वही प्रेमिल और दयालु सावधानी। अपनी सावधानी और दयालुता से वह कभी च्युत नहीं होती। जब मैं उसकी ओर ताकता हूं, तब मुझे ऐसा मालूम होता है मानो मैं एक ज्योति देख रहा हूं, इतनी अधिक बुद्धिमत्ता और दयालुता उस से विकीर्ण होती है और उन सब लोगों पर छायी रहती है जो उसे घेरे रहते हैं और जिन्हें वह विशालतर क्षितिजों की ओर ले जाती है। मैं उसके गुणों पर मुग्ध हूं, मेरे हृदय में उसके लिये बड़ा गहरा आदर-भाव......। परंतु यह सब प्रेम नहीं है......प्रेम! कैसा स्वप्न है! क्या कभी वह सत्य साबित होगा? (एक अत्यंत सुन्दर स्वर में गायी हुई एक राग सुनायी पड़ती है। कवि तेजी से उठते हैं और खुले जंगले के पास चले जाते हैं।) कितना अद्भुत स्वर है! जब तक पूरी राग समाप्त नहीं हो जाती तब तक चुपचाप सुनते हैं। एक लम्बी सांस खींच कर वह अपनी मेज पर जाने वाले ही हैं कि दरवाजे पर कोई धक्का देता है।) कौन है? (वह दरवाजा खोलने के लिये जाते हैं, चित्रकार प्रवेश करते हैं।)

कवि—ओ, आप हैं! नमस्कार जनाब! किस शुभ कारण से आप का पधारना हुआ?

चित्रकार—आप से कुछ बातें करनी थीं। आपकी पत्नी से मुलाकात हुई थी और उन्होंने मुझे बतलाया कि आप अपने मंदिर में ही विराजमान हैं। इसी लिये मैं आ उपस्थित हुआ।

कवि—यह तो बड़ी ही अच्छी बात है। तब आइये और आप जिसे 'मंदिर' कहते हैं, उसमें अपना आसन ग्रहण कीजिये और जो कुछ सुनाना है उसे सुनाइये। अब बहुत देर तक प्रतीक्षा मत कराइये। क्या चित्रकारी के विषय में कोई बात है?

चित्रकार—नहीं, चित्रकारी तो ठीक ही चल ही रही है, उसके विषय में किसी दूसरे समय आप से बातें करूंगा। आज तो संगीत का प्रसंग है। (कवि चौकन्ने हो जाते हैं।) कल शाम को मित्रों की एक पार्टी थी और वहां मैंने कला की एक

सच्ची मर्मज्ञा महिला का संगीत सुना जो संभवतः आपकी ही पड़ोसिन हैं। (कवि एक ऐसा हाव-भाव दिखाते हैं जिस से आश्चर्य और उत्सुकता प्रकट होती है।) क्या आप उन्हें जानते हैं ?

कवि—नहीं, पर मैं प्रायः ही यहां से उन का गाना सुनता हूं। उनका कण्ठस्वर तो अनुपम है, ऐसा है कि मेरी सत्ता के एक-एक रेशे को झंकृत कर देता है। जब सब से पहले वह मेरे कानों में पड़ा था तभी से वह मुझे बड़ा परिचित मालूम हुआ था, एक अत्यन्त प्राचीन काल की प्रतिध्वनि प्रतीत हुआ था। इधर लगभग छः महीनों से मैं उस कण्ठस्वर को सुन रहा हूं और वह एक प्रकार से मेरे कार्य का बड़ा ही अनुकूल अंग बन गया है। बहुत बार मुझे इच्छा हुई कि जिस व्यक्ति के पास इतना सुन्दर यंत्र है उसके साथ जान-पहचान करना चाहिये।

चित्रकार—यह तो बड़ी सुन्दर बात है। हां, तो कल शाम को उस युवती महिला से मेरी जान-पहचान हुई और वह बहुत अच्छी मालूम होती हैं। हम दोनों ने काफी देर तक बातचीत की और बातचीत के सिलसिले में उन्हों ने आप के काव्य की बड़ी प्रशंसा की—यह स्पष्ट था कि अपने परिवार में उनका अपना कोई नहीं है, वह एकदम अकेली हैं, उन्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपने ऊपर ही निर्भर करना पड़ता है और कभी-कभी उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है इत्यादि। उनकी बड़ी इच्छा है कि वह किसी 'कन्सर्ट' भावुक संगीत मंडली में शामिल हो जायें। उस समय तुरत मुझे आपकी और आपके विभिन्न परिचय सम्बन्धों की याद हो आयी। यह तो सभी जानते हैं कि आप स्वभावतः ही सब को अनुगृहित करते हैं; मैंने स्वतः यह भार अपने ऊपर लिया है कि मैं उन के विषय में आप से बातें करूंगा और आप से कहूंगा कि आप कुछ प्रसिद्ध संगीतज्ञों और गीत-लेखकों के साथ उनका परिचय करा दें। इसीलिये मैं आया हूं।

कवि—बहुत अच्छा। मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ उनके कार्य में लग जाऊंगा। तब आप दोनों ने क्या योजना तैयार की है ?

चित्रकार—यह बात तै की थी कि अगर आप राजी हों तो मैं तुरत उन्हें बुलाने चला जाऊंगा—उनका घर बहुत दूर नहीं है—और आप के पास ले आऊंगा जिसमें आप दोनों एक दूसरे से परिचित हो जायं।

कवि—बिलकुल ठीक है। जाइये और उन्हें ले आइये। मैं प्रतीक्षा में हूँ। (चित्रकार चले जाते हैं।)

कवि—(बड़ी तेजी से इधर-उधर टहलते हुए) आश्चर्य, आश्चर्य........संयोग नाम की वास्तव में कोई चीज नहीं; प्रत्येक बात ही किसी-न-किसी कारणों का फल होती है जिसपर हमारा कोई वश नहीं होता। आंतरिक सादृश्य बहुत

कुछ कर सकता है, कौन जाने ? मैं यह जानने के लिये व्यग्र हो रहा हूँ कि वह यंत्र जितना सुन्दर शब्द उत्पन्न करता है, उतना सुन्दर वह स्वयं भी है या नहीं। अच्छा, वे आ ही गये। (दरवाजा केवल भिड़ा हुआ था, बाहर से धक्का देते ही खुल जाता है)। ओह ! कितनी सुन्दर है वह !

(पारदर्शी गायिका हंसती हुई प्रवेश करती है, चित्रकार उसके पीछे-पीछे आते हैं।)

चित्रकार—देवीजी ! यही मेरे विख्यात कवि मित्र हैं जिनकी आप इतनी अधिक प्रशंसा करती हैं।

कवि—मेरे लिये यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आप से मेरी जान-पहचान हो गयी और मैं अब आप को यह बता सकूंगा कि आप अपने गले के जिस स्वर का व्यवहार इतनी अधिक कला के साथ करती हैं, उसका मैं कितना बड़ा प्रशंसक हूँ।

गायिका—आपकी बड़ी कृपा है, महाशय, धन्यवाद। आशा है, इतने ही मामूली शिष्टाचार के साथ आने के लिये आप मुझे क्षमा करेंगे, करेंगे तो ? परंतु हम दोनों इतने नजदीकी पड़ोसी हैं। आपका परिचय प्राप्त करने के पहले ही से मैं आप को जानती हूँ। मैंने बहुत बार आप को अपने जंगले पर खड़े होकर मेरा गाना सुनते हुए देखा है। आरम्भ में जब आप ताली बजाकर दाद दिया करते तब मुझे जरा भी अच्छा नहीं लगता था। मैं समझा करती थी कि आप मेरी खिल्ली उड़ा रहे हैं।

कवि—कैसी भूल है यह ! मेरा तो उद्देश्य बस होता था आप की प्रशंसा करना और आप संगीत-कला का जो मुझे आनंद देती उसके लिये धन्यवाद जताना।

चित्रकार—अब मेरा कर्त्तव्य पूरा हो गया, मैं जाता हूँ। मुझे अपने चित्रों के व्यापारी से मिलना है। ओह ! कितना शैतान है वह ! वह इस बहाने मुझ से कुछ वाहियात चीजें तैयार कराना चाहता है कि यही आज-कल की रुचि है। परन्तु मैं विरोध कर रहा हूँ।

कवि—हां, विरोध करो, खूब बहादुरी के साथ बिरोध करो। आधुनिक रुचि की इस विकृति को, मिथ्यत्व के अंदर होते हुए इस पतन को कभी प्रोत्साहित मत करो जो आज हमारे सभी साम्प्रदायिक लोगों की चेतना में, मानव-कृतियों के सभी क्षेत्रों में फैला हुआ मालूम होता है।

चित्रकार—बहुत अच्छा, मेरे मित्र, मैं सत्य के पक्ष में युद्ध करने के लिये एक नये उत्साह से भर कर यहां से जा रहा हूँ। नमस्कार।

कवि और गायिका—नमस्कार।

कवि—(सोफा की ओर इशारा करते हुए)—कृपा कर बैठ जाइये।

गायिका—(बैठकर) तो आप को स्वीकार है कि आप कुछ लोगों से मुझे मिला देंगे और उनके सामने गाने का प्रबंध कर देंगे ?

कवि—निश्चय ही । यहां की हमारी सर्वश्रेष्ठ संगीत-मंडलियों में से एक के संचालक मेरे मित्र हैं और आप की जैसी प्रतिभा है उससे आप के लिये सभी दरवाजे बड़ी आसानी से खुल जायगे ।

गायिका—मेरे लिये यह बहुत बड़ी सहायता होगी । इस के लिये अत्यन्त आभारी हूँ ।

कवि—नहीं, नहीं, इसमें कृतज्ञ होने की कोई बात नहीं । (वह आकर गायिका को बगल में बैठ जाते हैं ।) काश, अगर आप यह जानतीं कि आप ने मुझे कितना आनन्द दिया है... अगर आप जानतीं कि आप के मधुर कण्ठ का स्वर ताल मेरे दैनिक कार्य का कितना आनन्ददायी साथी रहा है । आपके कारण मैंने बहुत से सुन्दर और सुखप्रद घण्टे बिताये हैं । हां, वास्तव में आभारी तो मुझे होना चाहिये ।

गायिका--आपकी बड़ी कृपा है जो आप यह सब कह रहे हैं । (वह अपने चारों ओर देखती है, फिर कवि की ओर मुसकुराती हुई मुड़ती है ।) यह बड़े आश्चर्य को बात है कि यहां की सभी चीजें मुझे इतनी परिचित मालूम हो रही हैं, संभवतः स्वयं वस्तुएं उतनी नहीं जितनी कि वह हवा, वह वातावरण जिसने उन्हें घेर रखा है । धृष्टता के लिये क्षमा कीजियेगा, मैं यहां ऐसा अनुभव कर रही हूँ, मानो मैं अपने घर में हूँ, मुझे ऐसा लग रहा है मानो मैं बराबर ही यहां रही हूँ । मुझे ऐसा आभास हो रहा है कि अब सब प्रकार का सुख मुझे प्राप्त हो जायगा ।

कवि—इससे सब से पहले मुझे प्रसन्नता होगी ।

गायिका--(थोड़ी देर चुप रहने के बाद) एक मजेदार बात बताऊं मैं आपको । लगभग छः महीने हुए, अपनी मां की मृत्यु के बाद मैं इस शहर में रहने और अपनी जीविका उपार्जन करने की आशा से आयी ; मुझे कई छोटे-छोटे कमरों में से किसी एक को पसद करना था और प्रत्येक में ही कुछ सुविधाएं और कुछ असुविधाएं थीं । यहां, इस मकान के जिस कमरे को मैंने भाड़ेपर लिया है वह किसी दूसरे कमरे से अधिक अच्छा नहीं है, परन्तु मैं एक प्रकार से इस संबोधि के द्वारा इसे लेने के लिये प्रेरित हुई थी कि मैं यहाँ सुखी होऊंगी, यहाँ बड़ी शुभ वस्तुएं मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं · आश्चर्य, नहीं ?

कवि—(कुछ सोचते हुए) आश्चर्य, हां आश्चर्य है······(स्वगत) क्या यह कोई आंतरिक सादृश्य है ?··· . कौन जाने ? (गायिका से) आप देखती हैं, यह भी एक

विचित्र बात है कि जब से मैंने रोज आपका कंठस्वर सुनना आरम्भ किया है तब से में बहुत अधिक शांति और सतोष का अनुभव करता हूं और आपसे मिलने की मुझे बड़ी तीव्र इच्छा हो रही थी।

गायिका और मैं अपको केवल एक लेखक के रूप में जानती थी जिस की प्रतिभा के लिये मेरे मन में बड़ा आदर-भाव था और मुझे इस बात की जरा भी आशा नहीं थी कि मैं किसी दिन आपसे मिल सकूंगी। जीवन में ऐसी बहुत सी बातें होती हैं जो अत्यन्त अलौकिक और रहस्यमय होती हैं······रहस्यमय संभवतः केवल इसी कारण कि हम उनके कारणों को नहीं जानते, अन्यथा प्रत्येक बात ही बड़ी सीधी और स्वभाविक मालूम होती। यही देखिये न, मैं भी इस समय एक प्रकार के आराम और शांति के स्पर्श का अनुभव कर रही हूं और उससे अपने को सुरक्षित अनुभव करती हूं। काश, आप केवल इतना ही जानते कि मुझे सरक्षण और प्रोत्साहन की कितनी अधिक आवश्यकता है······। जो अनाथ बालिका निस्सहाय है, संरक्षणहीन है, एकदम अकेली अपनी जीविका कमाने के लिये वाध्य है, जो किसी ऐसे आदमी को नहीं जानती जो उसे उसके सघर्षों में सहायता प्रदान कर सके, उसके लिये जीवन बड़ा ही कठिन है। परन्तु अब आपसे मिलने के बाद मैं यह अनुभव कर रही हूं कि मेरी सारी कठिनाईयां दूर हो जायंगी।

कवि—आप विश्वास रखिये, आपकी सहायता के लिये जो कुछ करना मेरे लिये सभव होगा वह सब करूंगा। यह तो हमारा कर्तव्य है और यह बड़े आनन्द की भी बात है कि हम आप जैसी कलाविद् और महिला के लिये उपयोगी बनें।

गायिका—(सहसा सहज प्रेरणा से उनका हाथ अपने हाथ में लेकर) धन्यवाद। मैं अनुभव कर रही हूं मानो हम दोनों बराबर ही इस तरह, आसपास, बैठा करते हैं और हम मित्र हैं, पुराने मित्र हैं·········हम मित्र हैं न?

कवि—(गभीरता पूर्वक) हां, सच्चे दिल से।

गायिका—मैं यहां इतने आराम और निश्चिंतता का अनुभव कर रही हूं कि मैं सब प्रकार की सामाजिक रीतियां भूल रही हूं। और अब तो अशिष्टता की हद ही हो गयी, मुझे नींद की एक दुर्दम आवश्यकता ने अभिभूत कर लिया है। कितने लम्बे समय से घर पर मुझे अच्छी नींद नहीं होती, मैं एक प्रकार की बेचैनी अनुभव करती हूं, ऐसा लगता है मानो कुछ अदृश्य शत्रु मेरी ओर दृष्टि लगाये बैठे हैं और मुझे हानि पहुंचाना चाहते हैं। मैं वह शांति पाने में असमर्थ होती हूं जो मुझे स्वास्थ्यकर विश्राम प्रदान करती। पर यहां, मुझे ऐसा भान हो रहा है कि एक सजीव लबादे की जैसी कोई गर्म और मजबूत चीज मुझे घेरे हुए हैं और नींद धीरे धीरे मुझे अभिभूत करती जा रही है।

कवि—(प्रेमपूर्ण दृष्टि से उनकी ओर देखते हुए) लेट जाइये यहाँ, इस गद्दे पर। पूर्णरूप से निश्चित रहिये, कोई चीज आपको कष्ट नहीं पहुँचा सकती। विशेषकर आचार, रीति-नीति, प्रथा-प्रचलन का तो क्षण भर के लिये भी कोई विचार न करें; ये ऐसी बेड़ियां हैं जिनका कोई मूल्य नहीं, मनुष्य ने मनुष्य की विपत्ति के लिये ही इनकी रचना की है।

गायिका—मुझे नींद की बड़ी आवश्यकता है। मेरे सिर में बराबर पीड़ा रहती है जो मुझे बहुत तकलीफ देती है। मैं जल्दी-से-जल्दी परिणाम तक पहुंचने के लिये कठिन परिश्रम करती रही हूं और इस तरह मैंने अपने दिमाग को बहुत अधिक थका दिया है।

कवि—(बड़ी उत्सुकता से) क्या आप मुझे मौका देंगी?······मैं समझता हूं, मैं आसानी से आपको आराम दे सकता हूं। (वह अपना हाथ गायिका के ललाट पर कई बार फेरते हैं, फिर उसे उसके माथे पर कुछ देर रखते हैं। गायिका गद्दी पर लेटी है, अब आराम और प्रसन्नता के भाव के साथ सोने के लिये आंखें बन्द कर लेती है।)

गायिका—(आधी नींद में) अब सब कुछ ठीक है, अब कोई पीड़ा नही······मैं कितना सुख अनुभव करती हूं!

कवि—(वह गद्दे को इस तरह लगा देते हैं कि वह आराम से लेट सके और फिर उसकी बगल में बैठ जाते हैं और उसके हाथ अपने हाथों में ले लेते हैं—स्वगत) बिचारी लड़की, इतनी सुन्दरी और इतनी असहाय!

गायिका—(नींद में बोलती है) कितना सुन्दर!

कवि—(बड़े मीठे स्वर में) क्या सुन्दर है?

गायिका—(सोयी हुई हो) आपके चारों ओर,, नीली ज्योति······यह एक सजीव और ज्योतिर्मयी नीलमणि की तरह है; यह मेरे चारों ओर भी है; इसीसे मुझे शक्ति मिल रही है। यही मेरी रक्षा कर रही है, हां, सुनिश्चित संरक्षण प्रदान कर रही है······कोई भी हानिकारक चीज अब मेरे पास नहीं आ सकती। बड़े आनंद के साथ) कितना सुन्दर है यह नीला रंग जिसने आपको घेर रखा है!

कवि—जब आपको आराम मिल रहा है तब आप चुपचाप सो जाइये, कोई चीज मत देखिये।

गायिका—(दूरसे आते हुए जैसे) मैं सो रही हूँ। मैं सो रही हूँ। ओह! कितनी शांति है! कितना आराम है!

कवि—(प्रेमपूर्वक उसकी ओर देखते हुए) हां, सो जाओ, प्यारी लड़की, ऐसी नींद सोओ जो स्वस्थ बनाती है। जीवन में काफी कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं तुम्हें

तुम्हें विश्राम की बड़ी आवश्यकता है। (एक मुहूर्त्त चुप रहकर) अपने-आप को धोखा देने की चेष्टा करने से क्या लाभ? इसे स्वीकार करना ही होगा; जिस तरह इसकी वाणी मेरी समस्त सत्ता में सिहरन पैदा कर देती थी ठीक उसी तरह उसका सामीप्य भी मेरे अन्दर एक प्रकार का शाँत और गभीर आनन्द भर रहा है। इस समय वह यहाँ मौजूद है, सोयी है, मेरे संरक्षण में है, यह उसकी पहली सज्ञान निद्रा है। इसकी निर्भरता मेरे लिये एक दायित्व की सृष्टि कर रही है, ऐसे दायित्व की जो मेरे लिये बड़ा हो मधुर होगा। परन्तु उसका क्या होगा जिस के साथ मैंने विवाह किया है? मैं जानता हूँ, वह सबल और समर्थ हैं; मैं जानता हूँ. बहुत दिन पहले ही उसे यह पता लग गया था कि मैं उसे एक साथी से अधिक प्यार नहीं करता; वह भी उतने से सन्तुष्ट नहीं रह सकती; उसके प्रेम का मर्मस्थान अभी तक अछूता ही रह गया है। फिर भी उसके प्रति भी मेरी जिम्मेदारियाँ हैं। भला कैसे मैं उससे कहूँ कि मेरी सारी सत्ता दूसरे के ऊपर केन्द्रित हो गयी है? और फिर भी मैं कपट नहीं कर सकता; मिथ्यापन ही एकमात्र पाप है। इसके अतिरिक्त यह बिलकुल निरर्थक साबित होगा; उसकी जैसी नारी को धोखा नहीं दिया जा सकता। ओह! जीवन कितनी बार बड़ा निर्दयी हो जाता है!

गायिका—(अभी तक सोयी है, करवट बदलती है और अपना हाथ उनके हाथ पर रख देती है।) मैं सुखी हूँ······सुखी···(वह बालोचित निर्भरता के साथ अपना सिर कवि की गोदी में रख देती है।)

कवि—प्यारी लड़की! क्या करूं मैं?

(वह विचारों में डूबे हुए बहुत देर तक उसकी ओर ताकते हैं। गायिका एक दीर्घ निःश्वास छोड़ती है; अंगड़ाई लेती है और जग जाती है।)

गायिका—(आश्चर्य के साथ अपने चारों ओर देखती हुई) मुझे नींद हुई······ कितनी अच्छी नींद हुई मुझे! अपने जीवन में कभी ऐसी नींद मुझे नहीं हुई।

कवि—यह बड़ी प्रसन्नता की बात है।

गायिका—(प्रेमपूर्ण दृष्टि से कवि की ओर देखती हुई) देखिये न, जिस ज्योति ने आप को घेर रखा था और जो मेरे ऊपर तक फैली हुई थी वह मुझे पुष्ट कर रही थी और मेरा संरक्षण भी; वह इतनी सुन्दर थी, इतनी आनन्ददायिनी थी! अब जग जानेपर भी मैं उसे अपने चारों ओर अनुभव कर रही हूँ।

कवि—निस्संदेह, वह अब भी आप के चारों ओर है। क्या आज पहले-पहल ही आप ने रंगीन ज्योति देखी है?

गायिका—मुझे याद है, कभी-कभी मैंने लोगों के चारों ओर रंगीन ज्योति देखी है और कभी-कभी रंगीन कुहासा-सा देखा है। परन्तु आप की ज्योति की

तरह सुन्दर ज्योति मैंने पहले कभी नहीं देखी है और न किसी के प्रति इतना अधिक आकर्षण हो मैंने अनुभव किया है। बहुत बार तो दूसरे-दूसरे लोगों के इर्द-गिर्द जो कुछ दिखाई देता है वह गदे और दुःखदायी धुएं के जैसा होता है। यह भला क्या चीज है ?

कवि—स्पष्ट करने के लिये जरा लम्बे उत्तर की आवश्यकता होगी। पर मैं यथासम्भव थोड़े शब्दों में ही उसे अच्छे-से-अच्छे ढंग से आप को समझाने की चेष्टा करूंगा। अगर आप मेरी बात से ऊब जाय तो आप मुझे रोक दीजियेगा। हम लोगों की सत्ता विभिन्न अवस्थाओं से, तत्त्वों से बनी होती है जो तुलना की दृष्टि से देखें तो वायु और अग्नि आदि की तरह होते हैं। समझ रही हैं ?

गायिका—बड़े चाव से सुन रही हूँ।

कवि—कम घना तत्त्व अधिक घने तत्त्व में प्रवेश कर जाता है, जैसे पानी मिट्टी के बर्त्तन में से भाप बनकर उड़ जाता है, भेद केवल इतना ही होता है कि उसमें कोई हानि नहीं होती--कोई तत्त्व समाप्त या नष्ट नहीं हो जाता। उसी तरह हमारे अन्दर जो तत्त्व अधिक सूक्ष्म होता है वह हमारे शरीर के चारों ओर एक प्रकार का आवरण तैयार करता है और इस सूक्ष्म आवरण को हम वातावरण या परिमंडल कहते हैं।

गायिका—मेरी समझ में अब यह बात बहुत स्पष्ट हो गयी है। पर तब तो, इस तरह परिमडल को देख पाना बहुत उपयोगी हो सकता है ?

कवि—आपका अनुमान बिलकुल ठीक है; यह बड़ा ही उपयोगी है। आप सहज ही समझ सकती हैं कि हमारे अन्दर जो कुछ है, हमारे जितने सारे भाव और विचार होते हैं, उसी का ठीक-ठीक प्रतिविंब यह वातावरण या परिमंडल होता है। अगर हमारे विचार और भाव शांत-स्थिर और सामंजस्यपूर्ण हों तो यह परिमंडल भी शांत सामजस्यपूर्ण होगा; अगर हमारे भाव विक्षुब्ध और विचार चंचल हों तो यह परिमडल भी उस विक्षोभ और चांचल्य को ही अभिव्यक्त करेगा। उस समय वह अंधकार के जैसा होगा जैसा कि आप ने कुछ लोगों के इद-गिर्द देखा था।

गायिका हाँ, मैं समझ गयी। ये परिमडल हमारे भीतर की अवस्था को प्रकट करने वाले होते हैं।

कवि—बिलकुल ठीक, जो लोग इन परिमंडलों को देखते हैं उनके लिये भ्रम नाम की कोई चीज नहीं रह जाती, उदाहरणार्थ एक बुरा उद्देश्य रखने वाला मनुष्य अपने को देवदूत साबित करने की चेष्टा कर सकता है किन्तु उसका प्रयासव्यर्थ हो जायगा। उसका यह परिमंडल प्रकट कर देगा कि उसके विचार और अभिप्राय काले हैं !

गायिका—(मुग्ध होकर) अद्‌भुत बात है ! यह ज्ञान भला जगत् में क्या-क्या

परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकता? परन्तु आपने ऐसी सुन्दर-सुन्दर बातें कहाँ से सीखीं? क्योंकि जहाँ तक मैं जानती हूं इन्हें जानने वाले लोग बहुत नहीं हैं।

कवि—नहीं, विशेषकर आजकल के युग में, हमारे जैसे युग में, जिसमें सफलता और उस सफलता से प्राप्त होने वाली भौतिक तृप्ति ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण चीजें हैं। फिर भी आज असन्तुष्ट लोगों की संख्या दिन पर दिन बढ़ रही है और वे जीवन का कारण और उद्देश्य जानने का प्रयास कर रहे हैं। दूसरी ओर, ऐसे लोग भी मौजूद हैं जिन्हें ज्ञान है और जो दुखी मनुष्यों की सहायता करने का प्रयास कर रहे हैं, वे ही उस परम ज्ञान के सरक्षक हैं जो वंश-परम्परा के द्वारा हमें प्राप्त हुआ है, जो आत्मविकास की एक पद्धति के आधार के रूप में कार्य करता है और जिसका उद्देश्य है मनुष्य को, वह जो कुछ वास्तव में है और जो कुछ कर सकता है, उसके प्रति जागृत करना।

गायिका—कितनी सुन्दर वह शिक्षा होगी! आप धीरे-धीरे वह शिक्षा मुझे भी बतलाइयेगा, बतलायगे न? हम दोनों अक्सर एक दूसरे से मिलते रहेंगे न? मैं तो इतना पसन्द करूंगी कि हम दोनों एक साथ ही रहते······जब मैं सोयी हुई थी तब मैं ने अनुभव किया कि आप ही मेरे लिये सर्वस्व हैं और निश्चित रूपसे मैं आपकी हूँ। मैं ने यह भी अनुभव किया कि अबसे बराबर ही आप का संरक्षण मुझे घेरे रखेगा। और मैं जो इतनी डरा करती थी, मैं जो यह अनुभव किया करती थी कि मेरे सामने इतने अधिक शत्रु मौजूद हैं, अब एकदम शांत, स्थिर, निर्भय, निश्चिन्त हो गयी हूँ, क्योंकि जो लोग मुझे हानि पहुंचाना चाहते हैं उन सब से मैं कह सकती हूँ, "अब मैं तुम से जरा भी नहीं डरती, मैं पूर्णरूपसे सुरक्षित हूँ, मुझे ऐसा संरक्षण प्राप्त है जो कभी मेरा साथ नहीं छोड़ेगा।" क्यों, मैं ठीक कह रही हूँ न?

कवि—हां, हां, बिलकुल ठीक कह रही हैं आप।

गायिका—आखिर मैं आप से मिल सकी इसका मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है। आपके लिये मैं इतने दिनों तक प्रतीक्षा करती रही! और आप, क्या आप को आनन्द नहीं हो रहा है?

कवि—हां,···अभी जब आप सो रही थीं, मुझे एक ऐसी शांति और गभीर आनन्द का अनुभव हुआ जिसका पहले कभी मैंने अनुभव नहीं किया था। (सोचते हुए) हां, यही सच्चा प्रेम है जो कि एक शक्ति होता है; यही वह मिलन है जो सभी संभावनाओं के कार्यान्वित होने में सहायक होता है . पर....

गायिका—पर क्या? जब कि हम दोनों एक साथ रहने में इतना सुख अनुभव कर रहे हैं, तब भला कौन-सी चीज हमें रोक सकती है···?

कवि—(सहसा खड़े होकर) आह! आप नहीं जानतीं! उन्हें देखकर वह रुक जाते हैं जो कुछ समय से पर्दे के पीछे खड़ी थीं।) ओह!

(वह हंसती हुई खूब शांत मुद्रा के साथ आगे आ जाती हैं।)

गायिका—(घबड़ाकर) मैं नहीं जानती थी कि आप विवाहित हैं !

वह—(पारदर्शी गायिका से) आप न घबड़ावें। (कवि की ओर मुड़कर) और न आप ही, आप लोगों की अन्तिम बातचीत मैंने सुन ली है, पूरी-की-पूरी। मैं कमरेमें प्रवेश करने ही वाली थी कि ठीक उसी समय देवीजी की नींद टूट गयी। मैं नहीं चाहती थी कि आप लोगों को बाधा दूं और पीछे लौटने ही जा रही थी, पर पीछे विचार आया कि अगर मैं प्रतीक्षा करूं और आपकी बातें सुनूं तो शायद वह हम सबके लिये लाभदायी होगा। क्योंकि मैं निश्चितरूपसे जानती थी, मेरे प्यारे मित्र, कि आप बड़ी बुरी स्थिति में जा पड़ेंगे। मैं आपकी सरलता को, आप की सच्चाई को जानती हूँ और मैं यह जानती थी कि आप दोनों दुःख के साथ दो विपरीत दिशाओं में विभक्त हो जावेंगे। आप जानते हैं कि जो शिक्षा हमारे लिये परम सत्य है, वह कहती है : यथार्थ संयोग का एकमात्र बंधन प्रेम ही है। प्रेम का अभाव किसी भी प्रकार के संयोग को व्यर्थ करने के लिये पर्याप्त है। निःस्सन्देह, संयोगका बंधन प्रेम के बिना भी होता है जो पारस्परिक आदर-भाव और एक दूसरे को दी हुई स्वाधीनता के ऊपर आश्रित होता है और जो बिलकुल काम चलने लायक हो सकता है, पर मैं समझती हूँ कि जब प्रेम प्राप्त हो जाय तब अन्य सभी चीजों को इस लिये स्थान खाली कर देना चाहिये। आप को याद होगा, हम दोनों के बीच क्या बात तै हुई थी : हम ने यह प्रतिज्ञा की थी कि ज्योंहि हम में से किसी एक के अन्दर प्रेम जागृत होगा त्योंहि हम एक दूसरे को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करेंगे। इसी कारण मैंने आपकी बात सुनी है और अब मैं आपसे यह कहने के लिये आयी हूँ कि आप स्वतन्त्र हैं, आप सुखी रहें।

कवि—(विगलित होकर) पर तुम, तुम ? मैं जानता हूँ कि तुम बराबर अपनी चेतना के शिखर पर एक विशुद्ध और शांत ज्योति के अन्दर निवास करती हो। पर कभी-कभी अकेलापन कठिन मालूम होता है और समय नीरस और दुःखपूर्ण हो सकता है।

वह—ओह, मेरी बात ? मैं अकेली नहीं रहूँगी, मैं उन लोगों के पास चली चली जाऊंगी जिन से हम ने अपना पथ पाया है, उनके दल में मैं मिल जाऊंगी जो सनातन ज्ञान को धारण करते हैं और जिन्हों ने अबतक दूरसे ही हमारा पथप्रदर्शन किया है। अवश्य ही वे मुझे आश्रय देंगे। (वह पारदर्शिका गायिका को ओर मुड़ती है और उसका हाथ अपने हाथ में लेती हैं।) आओ, जरा भी दुःख न मानो। जो स्त्रियां संवेदनशील और सहृदय होती हैं, उन्हें अधिकार है कि स्वतंत्रतापूर्वक उस व्यक्ति को चुन लें जो जीवन में उनका रक्षक और पथप्रदर्शक हो ; तुमने बिलकुल स्वाभाविक नियम के अनुसार

ही कार्य किया है और सब कुछ ठीक ही है। हमारी कार्य करने और देखने की पद्धति संभवतः तुम्हें आश्चर्य मालूम होती है; यह तुम्हारे लिये नयी है और तुम उसका कारण नहीं जानतीं। (कवि की ओर इशारा करते हुए) वह तुम्हें सब कुछ समझायेंगे। मैं जा रही हूँ, पर जाने से पहले मुझे तुम्हारे हाथ मिलाने दो। (वह गायिका का हाथ कवि के हाथ में रख देती है।) कोई आशीर्वाद प्रेम के आशीर्वाद की बराबरी का नहीं है। फिर भी मैं उसमें अपना आशीर्वाद जोड़ रही हूँ, यह जानकर जोड़ रही कि वह तुम लोगों के लिये मधुर होगा। और अगर तुम मौका दो तो मैं उसके साथ एक सलाह और जोड़ दूंगी जो एक अनुरोध सा ही है। अपने मिलन को तुम लोग अपनी पाशविक भूखों और इन्द्रियगत वासनाओं की तृप्ति का एक बहाना मत बनने देना; बल्कि, उसके विपरीत, इसे तुम अपने लिये एक ऐसे पारस्परिक साहाय्य का साधन बनाना, जिसमें कि तुम अपने-आप को अतिक्रम कर जाओ और अपनी सत्ता को पूर्ण बनाने के लिये प्रगति करने की अटूट अभीप्सा और प्रयास से भर उठो। तुम्हारा संबंध एक साथ ही महान् भी हो और उदार भी, महान् उसका स्वरूप हो, उदार उसकी क्रियाएं हों। जगत् में एक आदर्श बनो और सदिच्छासंपन्न सभी मनुष्यों को दिखाओ कि मानव जीवन का सच्चा उद्देश्य क्या है।

गायिका—(बहुत अधिक प्रभावित होकर) विश्वास रखिये, आप हमसे जो कुछ आशा करती हैं उसे पूरा करने और आपकी शुभेच्छा के उपयुक्त होने का हम अधिक-से-अधिक प्रयास करेंगे। परन्तु मैं आप के मुंह से यह सुनना पसंद करूंगी कि मेरा इस घर में घुसना और उसके बाद की घटनाओं का होना आप के लिये एक अपूरणीय क्षति तो नहीं है ?

वह—तुम जरा भी मत डरो। अब मैं निश्चित रूप से जानती हूँ कि केवल एक ही प्रेम मेरी अन्तरात्मा को सन्तुष्ट कर सकता है; वह है भगवान् के प्रति प्रेम, वह दिव्य प्रेम, क्योंकि एकमात्र वही प्रेम ऐसा है जो कभी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ता। संभवतः एक दिन मैं उस चरम सिद्धि के लिए, भौतिक सत्ता के उस रूपांतर, उस दिव्यीकरण की सिद्धि के लिये अनुकूल परिस्थितियों और आवश्यक सहायताको प्राप्त करूंगी जो जगत् को पूर्णतया सामजस्य, ज्योति, शांति और सौंदर्य से गठित एक पुण्यभूमि में परिवर्तित कर देगा।

(पारदर्शी गायिका द्रवित होकर चुप खड़ी रहती है; उसके दोनों हाथ इस तरह जुड़े हैं मानो प्रार्थना कर रही हो। कवि आदर के साथ उनकी ('वह'की) ओर झुकते हैं, उनका हाथ पकड़ लेते हैं और उनपर अपना मस्तक रख देते हैं पर्दा गिर जाता है।)

(श्री मां के टूवार्डस दी फ्यूचर का अनुवाद)

धारावाहिक रूप से—

शतदल

(श्री नारायणप्रसाद 'विन्दु')

(१)

पथ हैं दो सम्मुख खुले पड़े
मन चुन जो तुझ को भाता है।
एक चढ़ाता गिरि के ऊपर—
एक गिराता निम्न स्तर पर—
कुआँ खोदने वाला जैसे नीचे ही नीचे जाता है।

मृग जल की अभिलाषा में
या शाश्वत सुख की आशा मे
इस जीवन के दिन चार, बोल खोना किस भांति सुहाता है?

छिछली लहरो सा अशांत
या गहरे सागर सा प्रशांत
खोज, लक्ष्य क्या है जीवन का? तू किस को देख लुभाता है?

अचिर वस्तु की इतनी प्यास
चिर में नहीं तनिक विश्वास
'विन्दु' दौड़ मारता सुख हित जितना, उतना ही दुख आता है।

(२)

कहां देश वह बसता है—
मोती जहाँ शांति का फलता है ?
हर समय प्यास, हर समय जलन ;
निःसीम भूख, अविराम दहन—
हा, नित जुएपर जते बैल सा, मुझको कौन घुमाता है ?

हरी हरी ज्यों ऊपर दूब ;
सजा धजा मै रहता खूब—
पर ज्वालागिरि-सा मन मेरा, रैन दिवस क्यों जलता है ?

सिर धुन नर जो आज कमाता
अनायास वह साँझ गंवाता
सुबह कमाने दूने बल से, फिर यह मन क्यों धाता है ?

कमर झुकी पर झुका नहीं मन
बाल पके, तृष्णा न पकी त्तरण
ठोकर खाता, आँख न खुलती, कैसी अंध विवशता है ?

———

ज्योति की ओर

★

एक ज्योति है, जिसके सामने अन्य सारा प्रकाश अन्धकार है।
एक शक्ति है, जिसके सामने अन्य सारा बल दुर्बलता है।
एक आनन्द है, जिसके सामने अन्य सारा आनन्द निरानंद है।

★ ★ ★

आगे बढ़ो,
दूर से दूर दूरी तक,
ऊपर उठो,
ऊंची से ऊंची ऊंचाई तक,
नीचे उतरो,
गहरी से गहरी गहराई तक।
उस दूरतम दूरी पर मानवता प्रतीक्षा कर रही है,
मानवता, पूर्ण और सिद्ध;
उस उच्चतम ऊंचाई पर दिव्यता चिन्तन कर रही है,
दिव्यता जो मार्ग निकालती है,
और अग्रसर करती है;
उस गहनतम गहराई में निवास करता है
यन्त्र, व्यक्तित्व, जो आज्ञापालन करता है
और कार्य संपादित करता है।
इन तीन तत्वों को जानो,
इन तीन गतियों को साधित करो,
इन तीनों के ओजस्वी संयोग में अपने एक, पूर्ण आत्मन को खोज करो।
जीवन में पूर्त्ति, एवं आत्मानन्द लाने का यही द्वार है।

—श्री नलिनीकांत गुप्त

श्री अरविन्द का योग और श्री माताजी

(श्री ऋषभचन्द)

श्री अरविन्द का योग :

एक संक्षिप्त विवरण

श्री अरविन्द का योग समन्वयात्मक योग है, पूर्णयोग है। इस योग का उद्देश्य और सभी योगों के उद्देश्यों से भिन्न है। और सब योगों में कर्म का, ससार का त्याग किया गया है या उनको चित्तशुद्धि के प्राथमिक साधन के रूप में अपनाया गया है। उनका मुख्य लक्ष्य रहा है मनुष्य के आत्मा की मुक्ति, संसारके प्रपंचों से सदा के लिए उसका निकल जाना। इस संसार को चाहे माया कहें, या संस्कार, या कर्म, या प्रकृति—इसका सर्वथा त्याग कर देना ही परम श्रेयस्कर माना गया है।

यह मान्यता, यह दृष्टिकोण, वैदिक ऋषियों की मान्यता से, वैदिक ऋषियों के दृष्टिकोण से बिलकुल विपरीत है। वेद या उपनिषदों के ऋषिगण ब्रह्म और जगत्, चित् और अचित्, पुरुष और प्रकृति, ज्ञान और कर्म के बीच कोई भेद नहीं देखते थे। उनको विशाल, व्यापक आध्यात्मिक दृष्टि में, ब्रह्म के एकत्व, सर्वाधिपत्य और सर्वरूपत्व नित्य प्रत्यक्ष थे, वे जीवन की समग्रता को कदापि खंडित नहीं करते थे। ऋग्वेद में है—"मायाविनो ममिरे अस्य मायया" अर्थात् मायाधीश ने अपनी माया के द्वारा सब कुछ को रचना की। श्वेताश्वतर उपनिषद् की शिक्षा है।

आद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टा रमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।"

अर्थात् अनादि, अनन्त अविद्यारूपी गहन में स्थित, विश्व के स्रष्टा, अनेक रूपधारी, विश्व में परिवेष्टित अद्वितीय परमेश्वर को जानकर, साधक समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

ब्रह्म एक है और फिर बहु भी है, वह सर्वत्र और सर्वरूप है। सारा ससार उसी की सृष्टि तथा उसीका शरीर है, हम जो कुछ देखते हैं और जो कुछ नहीं देख पाते वह सब वही है, उसके अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं है—यही वेद की एवं उपनिषदों की उदार, विशाल दृष्टि है। आत्मतः एवेदं सर्वम्—आत्मा से ही यह विश्व संसार निकला है; आत्मा अभूतः सर्व भूतानि—आत्मा ही से सब भूत प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की बुनियाद

इसी ज्ञान के आधार पर डाली गई थी। बाद में आने वाले युगों में "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" की अद्भुत युक्ति ने ब्रह्म और जगत् के अन्दर एक अलंध्य भेद की सृष्टि कर डाली और मनुष्य की आध्यात्मिक दृष्टि संकुचित हो गई।

श्री अरविन्द ने वेद के समन्वयात्मक ज्ञान के ऊपर अपने पूर्णयोग के विशाल प्रासाद की प्रतिष्ठा की है। उनके योग का उद्देश्य है मनुष्य की जाग्रत चेतना में, जाग्रत अवस्था में, (समाधि में नहीं), जीवन के अविश्रान्त कर्म प्रवाह के अन्दर चतुष्पाद ब्रह्म के साथ, गीता के पुरुषोत्तम के साथ पूर्ण एकत्व प्राप्त करना। इस एकत्व का अर्थ है सायूज्य, सालोक्य और साधर्म्य मुक्ति, भगवान में हमारी समग्र चेतना का -देह की, प्राण की, मन की और अन्तरात्मा की चेतना का—नित्य विहार। श्री अरविन्द की यह बात बिलकुल नई है। आत्मा परमात्मा से मिलकर एक हो सकती है; सही, परन्तु शरीर तथा प्राण किस प्रकार परमात्मा से युक्त हो सकते हैं? श्री अरविन्द का कहना है कि देह, प्राण, मन और आत्मा की चेतना कार्यतः पृथक्-पृथक् होनेपर भी मूलतः एक ही है। एक अद्वितीय चेतना है। वह 'एक' चेतना अपने आप को बहुधा विभक्त करती है "रूपं रूप प्रतिरूपो वभूवः"। किन्तु बहुरूपी बनने पर भी वह सदा एक ही है। इसलिये मनुष्य की अखंड चेतना जब तक परमात्मा के साथ पूर्ण एकता को प्राप्त नहीं होती तब तक वह स्वयं अपूर्ण तथा अतृप्त ही रहती है। मनुष्य की आत्मा जैसे परमात्मा के लिए तरसती है, उसका शरीर भी उसी प्रकार तरसता होता है, यद्यपि उसकी इस तरस को मनुष्य पहले नहीं पहचानता; और जिस प्रकार आत्मा की मुक्ति सम्भव ही नहीं, बल्कि अनिवार्य है, उसी प्रकार मृत्यु से, जरा से, व्याधि से, शरीर का मुक्त हो जाना, वासना से, दुःख-शोक से, काम-क्रोधादि से प्राण का मुक्त हो जाना तथा संदेहमूलक विचारों से, द्वंद्वों से, दुविधाओं से, अज्ञान से, मनका मुक्त हो जाना भी अनिवार्य है। आत्मा की मुक्ति और प्रकृति की मुक्ति, इस द्विविध मुक्ति के द्वारा मनुष्य के पार्थिव जीवन में सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति, ससार में अज्ञान, अशान्ति, और विभेद की जगह ज्ञान, शान्ति और एकता के राज्यकी प्रतिष्ठा, श्री अरविन्द के योग का यही लक्ष्य है।

लक्ष्य प्राप्तिका साधन

यह महान् लक्ष्य हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं? श्री अरविन्द इसका साधन बतलाते हैं, पूर्णयोग। ज्ञान, भक्ति, कर्म, इन तीनों के समन्वय के द्वारा अपनी समग्र सत्ता को भगवान के चरणों में न्योछावर कर देना और उनकी महाशक्ति को अपने अन्दर उतार कर उसके जरिए अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त करना, यही पूर्णयोग है। निष्काम कर्म के द्वारा शरीर का, अहैतुकि प्रेमभक्ति के द्वारा प्राण तथा हृदयका, और सतत भगवत् चिन्तन के द्वारा मनका सम्पूर्ण समर्पण परम पुरुष के साथ सर्वाङ्गीन

निरवच्छिन्न एकता का एकमात्र मार्ग है। व्यष्टि सत्ता के पूर्ण आत्मनिवेदन के द्वारा ही विश्वसत्ता और विश्वातीत सत्ता की पूर्ण प्राप्ति हो सकती है। यह आत्म-निवेदन पूर्णयोग का पहला पाद है।

समस्त सत्ता जब समर्पित हो गई, अहङ्कार जब निर्मूल हो गया (कम-से-कम, निस्तेज और निःसार हो गया) वासना का विलोप हो गया, पूरे आधार में जब शान्ति की प्रतिष्ठा हो गई, तब यह कहा जा सकता है कि साधक की चेतना पूर्णयोग के लिए तैयार हुई है--अभी भी योग का मुख्य अंग बाकी है, उसकी प्रधान क्रिया शुरू नहीं हुई। यह प्रधान क्रिया है साधक के आधार में महाशक्ति का उतर आना, (इसे श्री अरविन्द 'अवतरण' कहते हैं) और रूपान्तर की क्रिया का आरंभ। पूर्णयोग का साधन करती है स्वयं भगवती शक्ति और उसकी सिद्धि भी वही देती है। तांत्रिक योगी की मान्यता यथार्थ ही है कि मातृशक्ति ही हमें अज्ञान में डालती है, और वही हमें अनन्त ज्ञान और आनन्द के साम्राज्य में पहुंचा देती है। "शक्त्यां भगवति च श्रद्धा"--भागवत शक्ति के ऊपर हमारी श्रद्धा यदि अटूट रही और उसकी ओर हम सदा खुले रहे तो वह हमारे अन्दर प्रवेश कर हमारे योग का पूरा भार अपने हाथों में ले लेगी एवं हमारी समस्त प्रकृति को दिव्य प्रकृति में रूपान्तरित करने लगेगी।

मानव प्रकृति का रूपान्तर

रूपान्तर का यह आदर्श श्री अरविन्द की एक विराट देन है। मानव प्रकृति जो कि पशुभावों से भरी हुई है, वह देव प्रकृति बन सकती है, अपरा प्रकृति परा प्रकृति में परिणत हो सकती है; सत्व, रजस्, तमस, अपरा प्रकृति के ये तीनों गुण बदल कर क्रमशः ज्योति, तेजस और शान्ति बन सकते हैं—श्री अरविन्द की यह शिक्षा मानव जाति के सामने एक असीम प्रगति का मार्ग खोल देती है। संसार से भागकर नहीं, संसार में रहते हुए, जीवन के कर्त्तव्यों को पालते हुए, मनुष्य अपने सहज पशुभाव से सदा के लिए मुक्त होकर ज्योतिर्मय, आनन्दमय भागवत भाव को प्राप्त कर सकता है। परन्तु इस गौरवमय आदर्श की सिद्धि के लिए मात्र चित्त-शुद्धि पर्याप्त नहीं है, हमारे मन को, प्राण को, देह को, देह चेतना को तथा अवचेतना तक को बिलकुल विशुद्ध पवित्र कर, अपनी अभ्यस्त गतिओं को त्याग कर, विज्ञान लोक के आनन्द, शान्ति, शक्ति, ज्योति से परिप्लावित होना होगा। विज्ञान लोक चेतना का वह लोक है जहां सच्चिदा-नन्द परमेश्वर के रूप से सृष्टि-स्थिति करते हैं। इसका वर्णन करते हुये उपनिषद् कहती है—"सत्यं ऋतं बृहत्"—यह पूर्ण सत्य, ऋत का अनन्त धाम है। महाशक्ति साधक की चेतना में अवतरित होकर, उस चेतना को पार्थिव बंधनों से मुक्त कर, उसे इस चिद्घन, आनन्दघन, विज्ञान लोक में ले जाती है और उस विज्ञान लोक की

सर्वक्षम शक्ति को अर्थात् अपनी ही उच्चतम, अमोघ शक्ति को साधक के अन्दर उतार लाकर उसकी प्रकृति का पूर्ण रूपान्तर करती है। अतः श्री अरविन्द के पूर्णयोग में आरोहन तथा *अवतरण* को (ascent और descent) ये दो क्रियायें विशेष महत्व रखती हैं। साधक की स्थूल वाह्य चेतना को बदलना, उसके मानव स्वभाव को देव स्वभाव में परिणत करना यह केवल विज्ञानमय शक्ति ही कर सकती है, अन्य किसी भी शक्ति के लिये यह असाध्य है। हां, हमें याद रखना चाहिये कि इस रूपान्तर का अर्थ आत्मसंयम, आत्मानुशासन, इन्द्रियदमन आदि नहीं है; यह वह अवस्था है जिसमें संयम, शासन, दमन की जरूरत तक नहीं रह जाती। आज मानव प्रकृति में पशुभाव जैसा स्वाभाविक है, रूपान्तरित चेतना में भागवत भाव वैसा ही सहज, स्वाभाविक हो जायगा। रूपान्तरित प्रकृति होगी प्रेममयी, प्रकाशमयी, अमृतमयी।

पूर्णयोग की सिद्धिदायिनी—मां!

हम देख चुके हैं कि यह दीर्घ, दुस्तर साधना मनुष्य अपनी अहमात्मक शक्ति से नहीं कर सकता। सम्पूर्ण आत्मोद्घाटन तथा आत्म-समर्पण के द्वारा उसे उस महाशक्ति को अपने अन्दर बुलाना होगा और उसके हाथों में अपनी साधना का पूरा भार दे देना होगा। केवल अनन्तज्ञानमयी महाशक्ति ही जानती है कि किस तरह से जटिल मानव प्रकृति को शुद्ध और रूपान्तरित किया जा सकता है। कर्मक्षेत्र के अगिणत वाधा-विघ्नों के भीतर से हमें पार कराती हुई, अज्ञान से हमें मुक्त करती हुई, हमारी चेतना को स्वच्छ और विशाल बनाती हुई वह महाशक्ति ही है जो हमें भगवान के पास ले जायगी और हमारे आर्त्त तथा अविद्याग्रस्त जीवन को अमृतमय भागवत जीवन में बदल देगी। यह महाशक्ति ही हमारी मां है। यह परमेश्वरी ही हमारी साधना की साधिका और सिद्धिदायिनी है। श्री अरविन्द के आश्रम में जिसे हम माता के रूप में पूजते हैं, जिसके चरणों में हम अपना सर्वस्व ढाल देते हैं, जिसकी सेवा कर हम धन्य होते हैं, जिसके प्रेम से और प्रसाद से सुरक्षित होकर, जिसके प्रकाश से परिचालित होकर, हम श्री अरविन्द के पूर्णयोग के दुस्तर मार्ग पर चलते जाते हैं, वह मां कौन है? उसकी चेतना मानवीय है या दिव्य? उसकी शक्ति सीमित है या अनन्त?—इसका विवेचन इस पत्रिका की दूसरी संख्या में किया जायगा।

विश्वास

(श्री अनिलबरण राय)

विश्वास, ऐसा कहा जाता है, पहाड़ भी हिला सकता है। मानव प्रकृति को भागवत प्रकृति में ऊपर उठाने का महान और कठिन कार्य सच्चे और जीवित विश्वास से ही सम्पन्न हो सकता है।

जो अग्नि-शिखा हवा के हरेक झोंके में कांपती हो वह हमें बहुत दूर नहीं ले जा सकती। यदि हमें अपनी दिव्य संभावनाओं में जीवित विश्वास न हो तो हम अपनी मानवीय सीमाओं से ऊपर कभी भी नहीं उठ सकते। जो विश्वास हमारी सत्ता के प्रत्येक अंग में प्रवेश न कर गया हो और हमारे समस्त जीवन को, हमारे समस्त विचारों और हमारी समस्त चेष्टाओं को प्रभावित न कर रहा हो वैसा निष्क्रिय, दुर्बल, डगमगाता विश्वास कोई बड़ी या गौरवपूर्ण चीज प्राप्त करने की शक्ति या क्षमता नहीं रख सकता।

तो, हमें सब समय अपने आप में विशुद्ध सच्चे विश्वास की लौ को दीप्तिमान जलाए रखना है। जब कभी सन्देहों और आशंकाओं का हम पर आक्रमण हो तो हमें उनको तुरत ही मिथ्या शक्ति की गतियों के रूप में पहचान लेना है और दृढ़ता से अस्वीकार करना है। जब कभी हमारी लौ क्षीण पड़ती हो, हमें भगवती माता के प्रति उन्मीलित होना है, क्योंकि भगवती माता से समस्त अग्नि एवं ज्योति का सनातन उद्‌गम है। सन्देह और अशंकाए, निम्न जीवन के प्रति कामनाए और स्वार्थ की सकीर्णता और ईर्ष्या—ये सब प्रगति के घोर शत्रु हैं और हमें उनसे ऊपर उठना है और हमेशा विश्वास, ज्योति तथा भक्ति की विशुद्ध चेतना में निवास करना है। मनुष्य वैसा ही बन जाता है जैसी कि उसकी श्रद्धा होती है। सदैव निष्कपट श्रद्धा-विश्वास और विशुद्ध भक्ति में निवास करते रहने से हम दिव्य जीवन की महानता की ओर दृढ़ और अनिवार्य रूप में विकसित होते रहेंगे।

भगवान पर, भगवान की कृपा पर विश्वास रखो, साधना के सत्य पर, मन, प्राण और शरीर की कठिनाईयों पर आत्मा की अन्तिम विजयपर विश्वास रखो, साधनमार्ग पर, गुरु पर विश्वास रखो, उन बातों की अनुभूति पर विश्वास रखो जो हेगेल या हक्सले या बर्ट्रांड रसेल की फिलासफी में नहीं लिखी है, क्योंकि अगर ये बातें सच्ची न होतीं तो फिर योग का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

—श्री अरविन्द

श्री अरविन्द के पूर्णयोग का स्वरूप

(लेखक :— श्री नारायण प्रसाद 'विन्दु')

श्री अरविन्द के पूर्णयोग को कुछ पृष्ठों में लिखकर समझाना गागर में सागर भरने की चेष्टा करना है। वह एक नवीन युग का शुभ संदेश है, एक ज्योतिमर्य भविष्य की सूचना है, एक नयी सृष्टि की योजना है, एक अभिनव दृष्टिकोण है। उनके पूर्णयोग को वैदिक ऋषियों की अध्यात्म-साधना की चरम परिणति कहना, उनके योगयज्ञ को पूर्णाहुति समझना कविता नहीं, वास्तविकता ही होगा।

इस समय एक ऐसे योग की आवश्यकता थी जो पूर्व और पश्चिम में, भूत और वर्त्तमान में, सामंजस्य स्थापित करे, एक सेतु बांधे, एक ऐसा ज्योतिर्मार्ग दिखाये जिससे न हम अतीत के संचित धन से वंचित हों और न आधुनिक युग की देन को छोड़ने के लिये बाध्य हों। पुराने आदर्श को फिर से वापस नहीं बुलाया जा सकता। पुरातन को उसी रूप में लौटा लाना असंभव है। काल-प्रवाह दूसरी ओर बह रहा है। पर हम प्राचीन को भूलना नहीं चाहते, हम उसके प्रभाव से प्रभावित हैं, उसके गौरव से गौरवान्वित हैं। उधर पश्चिमी सभ्यता के प्रति भी हमारा आकर्षण कम नहीं है। इससे प्रत्यक्ष है कि हम दोनों चाहते हैं, पर यह कैसे संभव हो सकता है? इस असंभव को संभव करने के लिये ही पूर्णयोग का आविष्कार हुआ है।

पूर्व और पश्चिम में एक और अन्तर है। पूर्व प्यासा है शाश्वत सुख का, पश्चिम भूखा है भौतिक सुखका। कहा है, भारत की भूख से भी भक्ति की बू आती है। भारत कभी भौतिक सुख का अनन्य पुजारी नहीं हुआ। सब कुछ पाकर, सब में रहकर भी, उसके भीतर एक अतृप्ति की आग सदा सुलगती रही है। उसकी दृष्टि ऊपर को है। पूर्व को निश्चित धारणा है कि भौतिक पदार्थों से कोई कितना भी अपना घर क्यों न भर ले, उससे उसे पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती।

पूर्व की तरह पश्चिम में कोई योग को, आंतरिक उन्नति को, विशेष महत्त्व नहीं देता। कुछ इने गिनों को छोड़कर, वहां की साधारण जनता का उद्देश्य रहता है जैसे भी हो ऐसी शक्ति प्राप्त करना कि पृथ्वी का सारा ऐश्वर्य जी भरके उपभोग किया जा सके, सबको देह, प्राण, मन से लूटा जा सके। अन्तर्निहित सारी शक्तियों को विकसित करके सब कुछ यहीं पाना, कौन जाने वहां क्या है—यही रही है पाश्चात्य की मनोवृत्ति। इन दो मुखी भावों में, ज्योति और जीवन में, सामंजस्य स्थापित करने के लिये ही पूर्णयोग का जन्म हुआ है।

प्राचीन मत में सीमा के बंधन को तोड़कर, देह दासता से मुक्त होकर, असीम को पाना ही योग है। श्री अरविन्द ने योग का एक और अर्थ किया है। योग की इस नूतन परिभाषा से, मानव की आध्यात्मिक साधना में एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन सा आ गया है। योगयुक्त होकर कर्म करने की बात आज से पांच हजार वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण ने कही थी, पर वह बुद्ध के शून्यवाद और शंकर के मायावाद की बाढ़ में बह गयी। तब से अब तक योग सर्वसुलभ नहीं हो सका। योग के नाम से हमारे घर के लोग भागते रहे। इसका फल यह हुआ कि योग की संजीवनी बूटी से, सर्व रक्षिका शक्ति से हम वंचित हो गये और तम की कब्र में जा गिरे। श्रीकृष्ण के बाद किसी ऐसे महान व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, जो श्री अरविन्द की तरह शंखनाद करे कि जीवन में युद्ध भी करना होगा और योग भी करना होगा, जीवन से भागना नहीं, जीवन को ही कुरुक्षेत्र बनाना होगा, कर्म में ही भगवान को पाना और प्रकट करना होगा। यदि योग से जीवन समृद्ध नहीं हुआ, साधारण जीवन के व्यर्थ चक्र से परित्राण पाने के लिये वह हमारे लिये रास्ता नहीं, खोल सका, तो योग की सार्थकता क्या ?

श्री अरविन्द ने अपने योग का नाम पूर्णयोग दिया है। अब देखना यह है कि वह किस भाँति सभी अंशों में पूर्ण है। सत्ता के दो छोर हैं, एक छोर में है भौतिक जड़ पदार्थ और दूसरे छोर में है आत्मा। हमारे आचार्यों ने इन दोनों में कोई एकता, कोई समन्वय स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। उनकी धारणा थी कि दुनिया का त्याग किये बिना दुनिया के मालिक से भेंट नहीं हो सकती। पर बात ऐसी नहीं है। श्री अरविन्द का कथन है कि आत्मा जड़ तत्व को बाहुपाश में बांध सकती है और जड़ तत्व अपने अन्तर्निहित सत्य को प्राप्त कर सकता है। सच्चिदानन्द ही जड़ में उतरे हैं और वही अपने आप को प्रकट कर रहे हैं। जड़ में उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति युक्ति-सगत ही नहीं, अनिवार्य है। प्रकृति का क्रम-विकास यही प्रदर्शित करता है।

जीवन का अन्त मृत्यु नहीं हो सकता। जगन्मिथ्यावाद का खण्डन करने के लिये श्री अरविन्द ने सैकड़ों पृष्ठ लिखे हैं। वैदिक ऋषियों ने जगत् को मिथ्या कह कर कभी उसका तिरस्कार नहीं किया। राजे महाराजे तक सुख के पलने में सोने वाले अपने पुत्रों को ऋषियों के आश्रम में धूनी तापने के लिये नहीं, सयत और उन्नत जीवन प्राप्त करने के लिये भेजा करते थे। जीवन से भागकर, जगत् को सांप की केंचुली की तरह त्याग कर हम जगत् के दोषों को दूर नहीं कर सकते। घर को सूना देख कर शैतान घुसेंगे ही। हमें जीवन की झंझा से जमकर जूझना होगा और उस पर विजय प्राप्त करनी होगी। जीवन-प्रदीप को आत्मा के आलोक से आलोकित करना होगा। इस प्रकार पूर्णयोग का उद्देश्य आर्य ऋषियों की विचार

धारा का मूल्य निरुपण मात्र नहीं है और न इसका ध्येय गीता के तत्वों का प्रतिपादन करना ही है। नर और नारायण, जड़ और आत्मा, मर्त्य और स्वर्ग के बीच जो दुर्भेद्य चीन दीवार खड़ी है उसे तोड़ना और उनमें एकता स्थापित करना ही है पूर्णयोग का चरम और परम लक्ष्य। यहां न स्त्री-पुरुष का, न जाति वर्ण का भेद है, न काले गोरेका सवाल है, न पूर्व-पश्चिम का प्रश्न है। समग्र मानव जाति के लिये इसका द्वार खुला है।

अब यह देखना है कि पूर्णयोग भगवान का कौन सा स्वरूप हमारे सामने रखता है, उन्हें किस रूप में हमें साक्षात्कार कराना चाहता है। प्राचीन योग के अनुसार या तो हमें मन को मार कर ब्रह्म में लीन होना होता है या स्वर्गीय ऐश्वर्य लूटने के लिये बैकुंठ का टिकट कटाना होता है। बुद्ध ने निर्वाण के आदर्श का प्रचार किया और शंकर ने ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या का। शंकर के ब्रह्म, बुद्ध के महाशून्य की तरह सर्वग्रासी नहीं थे, वे परमब्रह्म परमेश्वर थे, पर उनके मत से इह लोक को छोड़े बिना उस लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती। रामानुज ने भूलोक और गोलोक दोनों को स्वीकार किया है पर उन दोनों में उन्होंने एक दुर्भेद्य अन्तराल की कल्पना की है। इस प्रकार हम देखते हैं, किसी ने सत्य को निर्गुण, निष्क्रिय रुप में देखा और किसी ने सगुण, सक्रिय रूप में, पर श्री अरविन्द के मत मे इनमें कोई विरोध नहीं हैं। मनुष्य की बुद्धि जिस तरह भगवान् का अव्यक्त, अनिर्वचनीय रूप देखना चाहती है, उसी तरह उसके प्राण भगवान् के माधुर्य का रसपान करना चाहते हैं। बुद्धि की तरह प्राणों के अधिकार को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, एक की उपेक्षा कर दूसरे को मानने से हमें सत्य की आंशिक उपलब्धि होगी, पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती।

पूर्णयोग उसे जगत् के आधार, जगत् के ईश्वर के रुप में ही नहीं, बल्कि जगन्नियन्ता, जगन्मय के रूप में भी प्राप्त करना चाहता है। वह विश्वातीत होकर भी, विश्वव्यापी है, इसके कण कण में परिव्याप्त है। इस प्रकार पूर्णयोग सत्य के, उपनिषद् के पूर्णब्रह्म को हमें सगुण-निर्गुण, सक्रिय-निष्क्रिय, क्षर-अक्षर, परात्पर रूप में प्राप्त तो कराना चाहता है पर एक को दूसरे के लिये बलिदान करके नहीं। वह उस एक का ही हमें पूर्ण प्रकाश दिखलाना चाहता है और यही है उसकी विलक्षणता।

भारत में मुक्ति के कई भेद हैं। अहैतुकि भक्ति के द्वारा भगवान को बांध कर मन के फण पर नचाना भक्त चाहता है, और अपनी इच्छाओं को भगवत इच्छा में लय करके साधर्म्य प्राप्त करना कर्मी चाहता है, पर ज्ञानी की खोज कुछ और है। वह चाहता है सायूज्य मुक्ति। किन्तु श्री अरविन्द कर्म, भक्ति और ज्ञान में कोई विरोध नहीं पाते। ज्ञान जब पूर्णता को प्राप्त होता है तो परम भक्ति का अभ्युदय होता है और पूर्णज्ञान से ही उन दिव्य कर्मों का सम्पादन होना संभव होता है जिससे नूतन

सृष्टि की नींव पड़ती है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के हाथ में पड़कर भगवदिच्छा कामना, वासना के रूप में परिणत हो जाती है। कामना की रस्सी को काट कर जो योगी भगवान् के आगे आत्म निवेदन करता है उसके भीतर से भगवदिच्छा बेरोक टोक स्वयं अपना कार्य करने का सुयोग पाती है। इसके फल स्वरूप कर्म का एक नवीन स्रोत खुल जाता है।

पूर्णयोग सब धर्मों की तात्त्विक एकता को स्वीकार करता है और फिर उससे आगे बढ़ता है। श्री रामकृष्ण ने संसार को यह प्रत्यक्ष दिखा दिया था कि सभी धर्म मूलतः एक हैं। सभी नद नदियां जैसे सागर में जाकर मिलती हैं वैसे किसी भी प्रचलित साधना द्वारा हम उसे प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि सभी धर्म उसकी ओर अंगुली निर्देश करते हैं पर उनमें से प्रत्येक किसी एक अंग पर इतना जोर देता है कि दूसरों को विकसित होने का अवकाश ही नहीं मिलता। उदाहरण के लिये, इस्लाम भगवान् की प्रभुता पर जितना जोर देता है उतना प्रेम पर नहीं देता जो ईसाइयों की आधार शिक्षा है। वेदान्तिगण ज्ञान के अतिरिक्त और किसी पर, यहूदी (Judaism) भगवान के न्याय और कानून के सिवा और किसी पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते।

श्री रामकृष्ण प्रायः कहा करते थे कि द्वैतवाद, विशिष्ट द्वैतवाद और अद्वैतवाद भिन्न भिन्न नहीं, बल्कि एक ही सत्य के विविध पहलू हैं। फिर भी उनका झुकाव निर्विकल्प समाधि पर ही अधिक रहता था। जरा-व्याधि ग्रस्त शरीर को वे फूटा ढोल कहते रहे, उसे शिव मन्दिर बनाने की बात उन्होंने कहीं नहीं कही। उस आनन्दघन को उतार कर इस मन्दिर में, इस पृथ्वी पर बसाया जा सकता है, हमारे दैनिक जीवन में उसे मूर्त्तिमान किया जा सकता है, यह सम्भवतः उनकी धारणा के भी परे था, और यही है दुनिया को श्री अरविन्द की सब से बड़ी देन। दुनिया ने राम को समझा और उन्हें अपनाया भी, पर वह श्री कृष्ण को, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व को, उनकी पूजा करके भी समझ नहीं सकी। ईसामसीह की लोक-सेवा के व्रत को उसने जीवन में उतारा, परन्तु 'भगवान का राज्य तुम्हारे अन्दर ही है' (The Kingdom of heaven is within you) यह आदर्श बनकर पुस्तकों में ही पड़ा रहा। जो अब तक नहीं हुआ उसी को सम्पादित करने के लिए पूर्णयोग की रचना हुई है।

श्री मां की बातचीत के आधार पर--

बच्चे और उनकी प्रकृति

(श्री नलिनीकान्त गुप्त)

पशुओं के प्रति बच्चों का व्यवहार प्रायः निर्दय पाया जाता है। ऐसा क्यों? विशेषतः पक्षियों के प्रति तो वे बहुत बदनाम हैं। उनके घोसलों को खोज निकालना और नीचे गिरा देना, उनके नवजात बच्चों को पकड़ लेना और सब प्रकार के अत्याचार उन पर करना, अंडों को चुन लेना और उन्हें चूर उनके टुकड़े टुकड़े कर देना बच्चों के लिए अत्यधिक मनोरंजक खेल होते हैं। उन पर वे जितने भी प्रकार के और जितनी भी अधिक पीड़ा दे सकने वाले अत्याचार कर सकें उनमें उन्हें विशेष मजा आता मालूम होता है। बच्चे की भावना में अन्य प्राणियों की वेदना का बोध न रहने का एक कारण कहा जा सकता है उसकी आत्म-केन्द्रीयता: वह अन्य सब लोगों से अलग स्वयं अपने आपको ही सब कुछ मानता होता है, सामाजिक आवश्यकताओं और गुणों का पाठ वह नहीं सीखा होता है। वह जो कुछ भी करता है, उसकी जो भी भावनाएं होती हैं, वे सब अपने लिए, अपने निजी सुख, आनन्द और स्वच्छन्द चेष्टाओं के लिए। उसका विकसता हुआ व्यक्तित्व विकसित होने के लिए अन्य व्यक्तित्वों से स्वयं को काट कर अलग हो जाता है और वह यह बोध खो बैठता है कि अन्य लोगों का भी स्वयं उसी के जितना मूल्य है। वह स्वयं अपने आप पर ही अपना मनोयोग देता होता है और उस हद तक वह अन्य व्यक्तियों पर मनोयोग देने वाला नहीं रह जाता। सहानुभूति, समवेदना – यह भावना बाद में आने वाली चीज है, यह पारस्परिक विनिमय के आघातों के फलस्वरूप आती है। यथार्थ समवेदना परिपक्व चेतना की गति होती है।

बच्चे को इतनी अधिक मजबूती से पकड़ रखने वाली जिज्ञासा के पीछे भी उसकी जागरूक और विकसित होती हुयी चेतना ही का जोर रहता है। इस उत्सुकता के कारण ही, अपनी विकसती हुई, जांचें करती हुयी चेतना की पैनी धार के कारण ही बच्चा इतनी तोड़ फोड़ और कांट छांट किया करता है। यह चीज हमें कठोरता और भावशून्यता लगती है, एक प्रकार की विकृति जैसी भी लगती है और इसका कारण ठीक वही है उम्र और अनुभवों के लिए सामान्य रहने वाले मूल्यों से अबतक अपरिचित रहने वाली बाल-चेतना की आत्म-केन्द्रीय, स्वार्थकेन्द्रीय प्रकृति।

किन्तु जब हम कहते हैं कि बच्चे को इतना भावनाशून्य, स्वार्थकेन्द्रीय और निर्दयी बनाने वाली चीज बाल-प्रकृति है तो हमें यह भी कहना है कि उसका स्वभाव इसके लिए कुछ ही हद तक कारण होता है, यह उसका एकमात्र कारण नहीं होता और यह कहानी

यहीं खतम नहीं होती। बच्चे की चेतना पर बिल्कुल आरम्भ काल से ही असर डालने वाले और उसे विभिन्न सांचों में ढालने वाले उसके जीवन में अन्य बहुत से क्रियमान कारण होते हैं।

हम ऐसा मान सकते हैं कि जीवन की प्रतिक्रियाओं की छापों के लिए बच्चा इस जगत् में साफ—कम या अधिक साफ स्लेट लिए आता है। आरम्भ काल में वह फिर भी अपनी अपनी चैत्य-सत्ता के अधिक समीप रहता है और उसका चैत्य-पुरुष उस समय तक जगत् के संघातों और छापों से पीछे ढकेला हुआ या उन से ढंका हुआ नहीं रहता। जगत् के साथ बच्चे के जो प्रथम चेतन संसर्ग होते हैं, वे साधारणतः उसके लिए सुखद नहीं होते। उसकी चैत्य-सत्ता उस समय संवेदनशील बनी रहती है और वह अपने सब ओर वैसी चीज पाता है जो कि उस संवेदनशीलता के विपरीत होती हैं। अपने माता-पिता के बीच होने वाला पहला झगड़ा जब वह देखता है, अपने किसी बुजुर्ग के कर्कश व्यवहार या विषम चाल की ओर जब उसका ध्यान उखड़ता है, जब वह अपने शिक्षक के मुंह से पहली बार झूठी बात सुनता है तो ये चीजें उसकी स्नायुओं के लिए बमगोले का सा आघात करती हैं। और ज्यों-ज्यों उसकी आयु बढ़ती है सब ओरों से इस प्रकार के पाठों की वर्षा उसपर होती रहती है और कोई आश्चर्य नहीं, कि बहुत जल्दी उसकी चेतना मुच जाती है, टेढ़ी-मेढ़ी मुड़ जाती है, विकृत हो जाती है; जैसा कि जगत् के जीवन को वह देखा और अनुभव किया होता है, उसी प्रकार वह भी अपने जीवन का खेल खेलने लग जाता है। केवल इतना है कि बुद्धि और अनुभव का निर्देशन और अनुशासन उस पर नहीं होता और इस कारण वह यह चीज अत्यधिक कर बैठता है, और उसकी उम्र के कारण, वयस्क व्यक्ति के लिए जो चीज छोटी और महत्वरहित होती है वह बच्चे के लिए अधिक बड़ी और अशुभ दीखने लगती है। जिन पारिपार्श्विक अवस्थाओं के घेरे में बच्चा रहता है उसके लिए वही एक वातावरण है, एक वायुमंडल है जिसकी हवा में वह सांसें लेता है, और यदि उस हवा में जहर हुआ तो उस जहर को वह अपने अन्दर खींच लेता है और धारण कर लेता है, अपना लेता है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह जहर उस बच्चे के तत्वों का और उसकी प्रकृति का अंग हो जाता है। विशुद्ध जीवन-आवेग रूप धारण करे और पनपे, इसके लिए विशुद्ध वातावरण की आवश्यकता रहती है।

× × ×

बाल-चेतना का ठीक केन्द्रीय स्वरूप क्या है? यह है जीवन में विश्वास, यह है यह निश्चितता कि जीवन के उद्देश्य की पूर्ति को कोई भी चीज नहीं रोक सकती, यह है वह विश्वास जो सब बाधाओं, पराभवों और ठोकरों के ऊपर स्थिर रहता

है, सब खतरों और कठिनाइयों के बीच प्रफुल्लता से गुजरता है। इस विश्वास में, इस निश्चितता में, स्वयं शरीर तक भी भाग लेता है और यह विश्वास शरीर से साहस और खतरे के कारनामे करवाता है। शरीर के वर्द्धित होने का भी यही कारण है और जब तक यह चीज रहती है तब तक शरीर में भी यौवन बना रहता है। एक कवि ने ठीक ही कहा है :—

एक सरल बच्चा,

जो प्रत्येक अंग में जीवन का अनुभव करता है,

वह मृत्यु को क्या जाने ?

जरा, आयु ठीक उस समय आना शुरू करती है जब शरीर की चेतना के इस आत्म-विश्वास और आत्म-निश्चितता में कमी आती है, जब शरीर भय खाने लगता है, अत्यधिक सतर्कता और आशंकाओं से भर जाता है। किसी बच्चे को चोट या जख्म लगने से, शरीर के किसी अंग में कुछ कट जाने से, या यहां तक कि शरीर का कोई अंग टूट जाने से भी सामान्यतः वह उसी उत्फुल्ल आवेग और चिन्ताशून्यता से आगे बढ़ने से नहीं रुकता। और बच्चे के चरित्र की यह चीज केवल उसकी शरीरिक क्षमता और वर्द्धनशीलता की ही जड़ नहीं है, वल्कि उसके मन के उत्साह और स्वास्थ्य की भी जो कि बाल-चेतना की अमूल्य संपत्ति है। सबसे बुद्धिमान शिक्षक वह होता है जो विवेक, परिमितता और संयम की बुद्धिमत्ता अत्यधिक नहीं सिखाता हो, प्रत्युत बच्चे के इस प्राणिक उत्साह को, उसकी जीवनी-शक्ति के इस आवेग को प्रोत्साहन देता हो और फिर भी साथ-ही-साथ ऊंचे आदर्शों और कार्यों के लिए योग्य यन्त्र के रूप में उसे सगठित करने का और उस दिशा में इसे ढालने का प्रयत्न करता हो।

× × ×

यदि शिक्षक यह चाहता है कि बच्चे उसकी आज्ञा का पालन करें, उसका आदर किया करें और उस पर भरोसा करें तो उसे दो कमजोरियों से बचे रहने के लिए सतर्क रहना चाहिए। शिक्षकों में ये दोष प्रायः रहा करते हैं और वे हैं—(१) झूठ बोलना और (२) क्रोधित हो जाना। बच्चा प्रायः यह जान लेता है कि आप उसे कोई लम्बी कहानी कह रहे हैं या नहीं। वह जिज्ञासु होता है, उसका कौतूहल दबाया नहीं जा सकता और फिर सबसे ऊपर यह बात है कि चीजोंको देखने का उसका अपना दृष्टिकोण और अपना ढंग होता है। वह सब चीजों और और विषयों के बारे में सब तरह से प्रश्न करता है और ये सारी चीजें प्रौढ़ व्यक्ति की दृष्टि को विचित्र लगती हैं। प्रश्नों के उसके उत्तर, समस्याओं के उसके समाधान— ये सब भी प्रचलित पुराने ढंग के नहीं होते, वल्कि अद्‌भुत होते हैं। किन्तु यह तो

बल्कि इस बात का और भी मजबूत कारण हो जाता है कि उनसे आयु में बड़े व्यक्ति बच्चों के इन वैचित्र्यों को केवल सहन ही नहीं करें वरन् बच्चे जो प्रगट करने की कोशिश कर रहे हों उन्हें समझने और उनकी प्रशंसा करने के लिए उनमें सहानुभूति और धैर्य भी हो। यदि आप बच्चे से चिढ़ जायं या क्रुद्ध हो जायं और उसे धमका दें या उसकी उपेक्षा करें तो बस इसका नतीजा आप के और उसके बीच के स्नेह-सम्बन्ध का टूटना ही होगा। या फिर, यदि आप उसकी आंखों में धूल झोंकना चाहें, अपनी अनभिज्ञता को छिपाने के लिए गलत उत्तर देवें, तो उस दशामें भी बच्चा तो धोखा नहीं खायगा, आपकी पोल का पता उसे लग जायगा और आप के लिए उसका सारा आदर जाता रहेगा। यह कहां अधिक अच्छा है कि आप अपनी अनभिज्ञता स्वीकार करें, जानकार बनने का स्वांग न रच यह कह दें कि आप वह बात नहीं जानते। इस से यद्यपि ऐसा हो सकता है कि कुछ हद तक आपके प्रति उसकी वीर-पूजा की भावना में कमी आ जाय और जिस विशुद्ध भयपूर्णप्रीति और प्रशंसा से वह आपको देखने का आदी था उसपर असर हो सकता है, किन्तु फिर भी आपके लिए उसके स्नेह और विश्वास बने रहेंगे। जो शिक्षक और माता-पिता बच्चे को सफलता और सुख से निर्देशित और वशीभूत करना चाहते हैं उनमें ऐसे अत्यन्त धैर्य और मृदु-स्वभाव की आवश्यकता रहती है जो कभी भी विचलित या उद्विग्न न हो। इस ढंग से तो आप अत्यधिक विद्रोही बच्चे को भी अन्त में अपने उद्देश्य के अनुसार ढाल सकते हैं, किन्तु इसके बिना आप आपसे प्रीति रखने वाले बच्चे के साथ भी विफल ही होंगे।

किसी बच्चे को नैतिक नियम सिखाना अवश्य ही कोई आदर्श बात नहीं है, किन्तु इसके बिना काम चलना बहुत कठिन भी है। हां, बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता जाय वैसे-वैसे उसे इस बात की शिक्षा दी जा सकती है कि समस्त सामाजिक और नैतिक नियम कितने सापेक्षिक हैं जिससे कि वह अपने अन्दर किसी उच्चतर और सत्यतर नियम या विधान को प्राप्त कर सकें। परन्तु इस विषय में बहुत ही सावधानी से आगे बढ़ना चाहिए और उस सच्चे नियम को खोज निकालना कितना कठिन है इस बात पर पूरा जोर रहना चाहिए।...

जो हो, किसी बच्चे को दी जाने वाली सब से सुन्दर भेंट तो यही हो सकती है कि उसे अपने आप को जानना और अपने आप पर प्रभुत्व प्राप्त करना सिखाया जाय।

—श्री मां

शांति कहां ?

(श्री आशुतोष)

मैं गरीब था, निःस्व, निरीह था। न मेरे पास कोई चीज थी न किसी चीज की चिन्ता–दुनिया मानो हर तरह से मुझसे दूर थी। मेरे पास था केवल एक पेट, और पेट भला किसका खाली रहता है ? पर शान्ति ? उसकी तो छाया भी कहीं नहीं दिखायी देती थी।

❀ ❀

हठात् जीवन-सागर में कूद पड़ा। ले ली नौकरी—तुच्छ, दस रुपये माहवार की। भाग्य ने साथ दिया, देखते-देखते सैकड़ों, हजारों और लाखों का बाजार गर्म हो उठा। प्रकांड अट्टालिका खड़ी हो गयी, बग्घी-मोटर दौड़ने लगी, मुनीम-गुमाश्ते तैयार हो गये। समाज के बड़े-बड़े धनी-मानी, विद्वान्-पंडित तरह-तरह के कलाकार मेरे दरवाजे पर मंडराने लगे। क्या नहीं था मेरे पास ? हजारों लाखों चीजें मेरी थीं, अनगिनत कार्य, असंख्य प्रश्न और विचार मेरे थे।

पर शांति ? उसकी तो परिछाहीं भी कहीं ढूंढ़े नहीं मिलती थी।

❀ ❀

अतृप्त, चल पड़ा गङ्गा के किनारे। लगायी डुबकी और साथ ही मानो स्नान कर लिया सारे संसार से। निकल पड़ा निरुद्देश्य, जिस ओर पांव चलने लगे।

चलते-चलते-जा पहुंचा एक सुदूर प्रांतर में, वनस्थली में। कोसों कोई बस्ती नहीं थी, कोई कोलाहल, जनरव नहीं था; थी केवल दिगंतव्यापी नीरवता, और उसे और भी अधिक नीरव बना रहा था वन्य पशु-पक्षियों का कलरव। चारों ओर फैला हुआ था गङ्गा का विस्तृत बालुकामय ऊबड़-खाबड़ तट और उसी के किनारे-किनारे ऊंची-नीची टिलाओं पर लहरा रही थी हरियाली–नाना प्रकार के लता-वृक्ष, फल-फूल। प्रकृति देवी ने मानो अपना स्वाभाविक सौंदर्य सर्वत्र बिखेर दिया हो।

और इसी नैसर्गिक सौंदर्य के बीच थी एक सीधी-सादी कुटिया—जंगली घास-पत्तों से बनी हुई नन्हीं सी कुटिया साफ-सुथरी पर प्रायः खाली-खाली। था वहां एक ही कुशासन, उसपर एक ही नंग-धड़ंग मूर्त्ति और पास में एक ही सजल कमंडल। यह सादगी, यह नंगापन मानो प्रकृति देवी के सहस्रमुखी सौंदर्य और ऐश्वर्य को अनन्तगुना बढ़ा रहा था।

थका—मांदा बैठ गया कुटिया के द्वार पर, हिन्दू मस्तक सहज ही झुक गया—श्रद्धा के साथ लोट गया उन चरणों पर। कबतक पड़ा रहा, मालूम नहीं। उठते ही, होश सम्भालते ही देखा—सर्वत्र शांति का राज्य छा रहा है; आनन्द का मानो एक समुद्र मेरे चारों ओर लहरा रहा है; साधु के विशाल, विस्फारित नेत्र मेरे मुख-मंडल पर ज्योति बरसा रहे हैं; उनका एक कोमल हाथ मेरे मस्तक पर प्रेम का प्रलेप लगा रहा है और श्रीमुख से अमृतवाणी झर रही है "वत्स! मृग अपनी ही नाभि की गंध से आकृष्ट होकर सारे दिन चक्कर काटा करता है। उसकी सारी हैरानी-परेशानी का बस समाधान यही है कि वह यह जान जाय कि गंध उसी के अन्दर है, उसी की है, वही वह गंध है, और कुछ नहीं। बस, उसी तरह मनुष्य-जीवन को भी समझो। जीवन का सारा समाधान तुम्हारे अन्दर ही है। अपने भीतर ताको, अपने को देखो, अपने को जानो, अपने अन्दर ही उसी अपनी सत्य सत्ता में निवास करो, वही वास्तविक जीवन है, उसी में चरम तृप्ति, परम शांति है।"

वह शान्ति कहां ?

झर झर अमृत झरता जिसके,
श्रीमुख से, वह शांति कहाँ है ?

जिसके हित जगती तलफ रही,
जिसके हित जगती कलप रही,………

यहां !

शून्य गगन सा नित सूना मन,
अपलक जिसके अन्तर्लोचन,

असि-पथ पर मानव युग-युग से,
खोज रहा वह शान्ति यहाँ है।

—श्री 'विन्दु'

आशा और अवलंब

(श्री पथिक)

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानम् सृजाम्यहम् ॥

आज यह प्रश्न प्रत्येक के सम्मुख है कि संसार किस ओर जा रहा है, विनाश की ओर, या विकास की ओर? और यह चिन्ता इसलिए और भी गंभीरता धारण कर लेती है जब कि हम अपने सीमित ज्ञान पर ही भरोसा करके संसार को उस पर निर्भर करने को कहते हैं। गीता हमें इस बात का संकेत देती है कि हमारे ज्ञान से परे एक अनन्त सत्ता एवं ज्ञान है और उसी के चलाए यह जगत् चल रहा है, फिर वह सता चाहे अव्यक्त रूप से प्रत्येक को चलाए चल रही हो या अवतार रूप में मूर्त्तिमान होकर। इस जगत् में जो कुछ है सभी भगवान की लीला है, सत, रज और तम, तीनों में हो सृजन, पालन और संहार के तीन मूर्त्तिमान् देवता ही कार्य कर रहे हैं, न कि मानव का यह सीमित 'मैं'। जब कभी हम बेचैन होकर ससार की रक्षा को बात उठाते हैं, तब वहां हमारा अहं ही प्रबल होकर हमें खाने दौड़ता है और हम उस अनन्त तत्व को भूल जाते हैं जो मानव के सीमित ज्ञान से परे है। और जब तक मनुष्य उस पूर्ण पर भरोसा नहीं कर पाता एवं अपने अधूरे ज्ञान को ही पूर्ण मान कर जगत् के उद्धार का ठेकेदार बना रहता है तब तक भला जगत् उस से प्रकाश तो क्या पायगा, अपितु उसके अन्धकार में भटकते हुए विचार और अहं-वेग मानव को उद्वेग ही प्रदान करेंगे। इसके अतिरिक्त मनुष्य और कुछ भी नहीं दे सकता।

इसलिए यदि हमें जीवन में आनन्दित और सुखी रहते हुए अपनी यात्रा तैं करनी है तो हमें अपने से परे एक परिपूर्ण तत्व पर भरोसा करना चाहिए जो प्रत्येक परिस्थिति में अपने परिपूर्ण प्रकाश के सहारे संचालित कर रहा है—

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वशः।

उन सब लोगों के लिए भागवत कृपा और भागवत साहाय्य सदा ही विद्यमान हैं जो उनके लिए अभीप्सा करते हैं, और जब उन्हें श्रद्धा-भक्ति और पूर्ण विश्वास के साथ ग्रहण किया जाता है तब उनकी शक्ति अनन्त होती है।

—श्री मां

श्री अरविन्द

(डा० तान यून-शान)

मैं भारत में तीर्थ-यात्री बनकर आया। किन्तु अन्य तीर्थयात्रियों से मैं भिन्न रहा, मैं भारत को अपनी दूसरी जन्मभूमि जो मानने लगा हूं। वास्तव में, भारतमाता कितनी दयामयी और कितनी महान् हैं! मेरे लिए भारत विश्व में वह देश है जहां मानव सदैव अपने उच्चतम आध्यात्मिक प्रयासों का बीड़ा उठाता रहा है और इन प्रयासों के फल मानव चिन्तन के इतिहास में बेजोड़ हैं।

मैंने इस बात का सदैव नियम बना रखा है कि जब मैं भारत में रहूं तो भारत-माता की जिन प्रतिनिधि सन्तानों ने इस देश की आत्मा का दीप जलाए रखा है, उनसे भेंट करूं और अपने प्रेम एवं सम्मान की विनम्र अंजलि उन्हें अर्पित करूं। अतएव जब मैं अपने प्रशंसनीय मित्र और साथी प्रोफेसर शिशिर कुमार मित्रा के संग नवम्बर १९३९ में पांडिचेरी जा सका और भारत के महायोगी श्री अरविन्द को अपनी गभीरतम श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर पाया तो मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुयी।

पांडिचेरी से मैं लौटा तो मेरा हृदय भावनाओं से परिपूर्ण था। उन भावनाओं की गहराई तक कोई शब्द नहीं पहुंच सकता। मैंने वहां जो देखा और अनुभव किया उससे मुझे यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि श्री अरविन्द ने जीवन का एक ऐसा व्यावहारिक दर्शन-शास्त्र विकसित किया है जो कि मानव की आध्यात्मिक विजयों के इतिहास में एक अपूर्व चीज है, और उसका उद्देश्य (मानव की नव आन्तरिक जीवन की प्राप्ति) निश्चय ही पूरा होने को है। श्री अरविन्द का शक्तिशाली व्यक्तित्व और उनका विशाल ज्ञान मानवता की सबसे महान सम्पत्तियां हैं। मेरी यह आशा है और प्रार्थना भी, कि जब तक मानव जाति उनके सन्देश की सत्यता के प्रति जाग्रत न हो जाय तब तक श्री अरविन्द अपना अनुप्रेरक प्रभाव प्रसारित करते रहें।

आश्रम की श्री मां कितनी मधुर हैं! वे एक शक्ति भी हैं और यह अनुभव प्रत्येक दर्शनार्थी को अवश्यमेव होता है। मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानों वे मेरी आत्मा के सबसे अधिक निकट हैं। निस्सन्देह, वे सबों की मां हैं, और आश्रम की हरेक चीज सीधे उनके निर्देशन के अधीन विकसित होती है। वहां कोई लिखे हुए नियम या आदेश नहीं हैं, तो भी वहां का प्रत्येक आश्रमवासी जिस व्यवस्था, अनुशासनशीलता और भक्ति से युक्त हो अपना कर्त्तव्य करता है वही चीज आश्रम का असाधारण, अनुपम स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए काफी आश्चर्यजनक है। आश्रम का वातावरण शान्ति

एवं सामजस्य से परिव्याप्त है। मैं यह भी कहना चाहूंगा कि आश्रम की जो शान्ति आश्रम में परिप्लावित रहती है वह शान्ति पांडिचेरी के सारे शहर तक में व्याप्त है। ऐसा प्रतीत होता था कि आश्रमवासी किसी प्रेरणा के अधीन हो अपने काम' कर रहे हैं। उन्होंने मेरे प्रति जो स्नेह दिखाया उसे मैं कभी नहीं भूलूंगा। आश्रमवासियों में कवि हैं, साहित्यक हैं और कलाकार हैं, और इञ्जीनियर और वैज्ञानिक हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी प्रतिभाओं का विकास करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। उनमें से कुछ लोगों ने अपने अंकित चित्र तथा रचे हुए गीत मुझे जो दिए वे अपने प्रकार की उत्तम चीजों में हैं। श्री दिलीप कुमार राय ने, जिनका स्नेह मैं सदैव प्रेम और आदर से स्मरण रखूंगा, कई मर्मस्पर्शी गीत सुनाए और उन गीतों का आध्यात्मिक सन्देश और प्रभाव मैंने बहुत भलीभांति अनुभव किया। वह आश्रम एक नूतन जीवन का केन्द्र है और उसके भविष्य की महानता में मुझे विश्वास है।

श्री अरविन्द के संदेश जैसी चीज की संसार को दारुण आवश्यकता है। मनुष्य ने जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों की पूर्ण अवहेलना कर अपनी भौतिक आकांक्षाओं को तृप्त करने पर अत्यधिक जोर दे डाला है और उसका परिणाम यह है कि आज वह असत् और अन्धकार की बुरी से बुरी शक्तियों का दुःखी शिकार हो गया है। मैं यह अनुभव करता हूं कि श्री अरविन्द का योग मानव के अन्दर आत्मा के मूल्यों में फिर से विश्वास की लौ जगायगा और इस प्रकार मानवता की और भी बड़ी संकटपूर्ण दुर्दशाओं से रक्षा करेगा। मनुष्य के लिए जगने को अभी भी समय है।

भारतीस्तव :

कुछ लोगों के लिए यह मुनिबृन्द की पावन जन्मभूमि है; कुछ लोगों के लिए यह देवताओं की अवतारभूमि है; कुछ लोगों के लिए महान् तीर्थों तथा क्षेत्रों की भूमि है; कुछ लोगों के लिए चिरकाल अद्भुत चरित्र दिखाने वाली यह दीर्घजीवी है। परन्तु हमारे लिए यह माता अखंड चिज्ज्योति की वेदी तथा नित्य आत्मधर्म की भूमि है।

—*श्री कपाली शास्त्री*

और वही तू है

अरुण का सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु था। उससे उसके पिता आरुणि ने कहा, "श्वेतकेतु ! तू ब्रह्मचर्यवास कर, क्योंकि सोम्य ! हमारे कुल में उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष अध्ययन किए बिना ब्रह्म-बन्धु सा नहीं होता।"

वह श्वेतकेतु बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन करा चौबीस वर्ष का होने पर सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर अपने आपको बड़ा बुद्धिमान और व्याख्यान करने वाला मानता हुआ अनम्रभाव से घर लौटा।

उससे पिता ने कहा, "सोम्य ! तू जो ऐसा महामना, पाण्डित्य का अभिमानी और अविनीत है, तो क्या तूने वह ज्ञान पूछा है जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है ?"

यह सुन कर श्वेतकेतु ने पूछा, "तात, वह ज्ञान कैसा है ?"

उसके पिता ने उत्तर दिया, "सोम्य ! जिस प्रकार मिट्टी के पिंड के ज्ञान के द्वारा मिट्टी के बने समस्त पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि भिन्नता का विकार वाणी के लिए नाम भर को है, सत्य तो केवल मिट्टी ही है, जिस प्रकार एक स्वर्ण का ज्ञान होने पर समस्त स्वर्णमय पदार्थ जान लिए जाते हैं, क्योंकि भिन्नता का विकार वाणी के लिए नाम भर को है, सत्य तो केवल स्वर्ण ही है,............सोम्य ! ऐसा ही वह ज्ञान भी है जिसे पाकर हम सब कुछ जान लेते हैं।

"निश्चय ही मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे। यदि वे जानते तो मुझे क्यों न बताते ? अब आप ही मुझे वह बतलाइये," श्वेतकेतु ने कहा।

तब पिता ने कहा, "अच्छा सोम्य ! बताता हूँ।".........

और उन्होंने कहा, "सामने वाले वटवृक्ष से एक बड़ का फल ले आ।"

"तात, यह ले आया," श्वेतकेतु ने कहा।

"इसे फोड़।"

"तात, फोड़ दिया।"

"इसमें क्या देखता है ?"

"तात, इसमें ये अणु के समान दाने हैं।"

"अच्छा, वत्स, इनमें से एक को फोड़।"

"फोड़ दिया, तात।"

"इसमें क्या देखता है ?"

"कुछ नहीं, तात ।"

"हे सौम्य ! इस वटबीज की जिस अणिमा को तू नहीं देखता उस अणिमा का ही यह इतना बड़ा वटवृक्ष खड़ा हुआ है । हे सौम्य ! तू इस कथन में श्रद्धा कर । यह जो अणिमा है, ऐसा ही यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वही तू है ।"

"तात, मुझे फिर समझाइये", श्वेतकेतु ने कहा ।

"अच्छा सौम्य ! इस नमक को जल में डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना ।"

श्वेतकेतु ने वैसा ही किया । प्रातःकाल में उससे पिता ने कहा, "वत्स, रात में तुमने जो नमक जल में डाला था उसे ले आओ ।"

किन्तु श्वेतकेतु को नमक ढूंढ़ने पर नहीं मिला, क्योंकि नमक तो जल में घुल कर विलीन हो गया था ।

तब पिता ने कहा "इस जल को ऊपर के भाग से ले और चख । कैसा है ?"

"नमकीन ।"

"बीच में से चख । अब कैसा है ?"

"नमकीन ।"

"नीचे से लेकर चख । अब कैसा है ?"

"नमकीन ।"

अच्छा, अब इस जल को फेंक कर आ ।"

श्वेतकेतु ने वैसा ही किया और आकर कहा, "किन्तु उस जल में नमक सदा ही विद्यमान था ।"

तब पिता ने कहा "सौम्य ! वह सत भी इसी प्रकार यहां निश्चय विद्यमान है ।" वह जो अणिमा है उसी प्रकार यह सब है । वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है ।"

(छान्दोग्य उपनिषद् से)

खेती करो

(*श्री गिरधरलाल सेठ*)

जिस तरह खेत के अन्दर कुंआ होता है, उसी तरह मेरी देह के अन्दर हृदय है, और उस हृदयके अन्दर एक अमर फौवारा है जिसमें से निरन्तर पानी उछल रहा है—यहाँ न तो कोई मोट है, न बैल—फिर भी खेत को बराबर भरपेट पानी मिला करता है।

और खेत के भीतर जैसे क्यारियां होती हैं—कुएं की बारी पर से बेड़े की जड़ तक, वैसे ही मेरे अनन्त कोनों वाले खेत के भी सभी कोनों तक आने वाली छोटी बड़ी अनेक क्यारियां हैं।

जाड़े में खेतिहर खेत के एक कोने में कौड़ लगाता और आग तापता है। मैं भी यज्ञ-कुण्ड में आग तैयार करता हूँ और तप करता हूँ। खेतिहर कूड़ा-करकट इकठ्ठा करता और चकमक पत्थर से आग तैयार कर उसमें उस कूड़े को स्वाहा करता है और बांस की फोंफी से फूंकता है। मैं भी पुराने पापों को इकट्ठा करता हूँ, अन्तर-वेदना से यज्ञाग्नि प्रकट करके उसमें पाप पुंज का हवन करता हूं और उसके अन्तिम कण तक को जलाने के लिये ममत्वहीनता की फोंफी से फूंका करता हूँ।

मैं भी एक सच्चा खेतिहर हूँ न ?

बस खेती करो, खेती करो ; कोई पृथ्वी पर खेती करता है तो कोई समुद्र पर ; और कोई अपने अन्तर प्रदेश पर। आगे बढ़ने के लिये, आर्य बनने के लिये बस एक ही उपाय है, खेतिहर बन कर खेती करना।

अगर हम अपने मुंह या कलम के द्वारा किसी भी मिथ्या को, चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो, प्रकट होने दें तो फिर भला हम सत्य का पूर्ण सन्देशवाहक बनने की आशा कैसे कर सकते हैं ?

सत्य के पूर्ण सेवक को उचित है कि वह छोटी-से-छोटी भी भूल भ्रांति, अतिरंजना या विकृति से दूर रहे।

—*श्री माँ*

प्रभु से

(श्री धर्मदेव विद्यावाचस्पति)

★

उछल रहा है चित यह मेरा
सागर की लहरों के साथ।
स्पष्ट दिखायी देता मुझको
हर तरंग में प्रभु का हाथ॥

दया शान्ति आनन्द सिन्धु वह
मुझे नचाता जाता है।
शांति सुधा का पान करा कर
मुझ को मस्त बनाता है॥

असीमता का अनुभव करता
प्रभु को सीस नवाता हूं।
उस की मंगलमय आशिष का
पात्र पुत्र बन जाता हूं॥

तव मंगलमयि माता मुझको
अपनी गोद बिठाती है।
पाप ताप चिन्ता शोकादिक
सब को दूर भगाती है॥

उसकी गोदी में बैठा मैं
अपनी सुध बिसराता हूं ।
दिव्य ज्योति से अपने जीवन
को आलोकित पाता हूं ॥

नहीं बराबर इसके कोई
हो सकता अद्भुत आनन्द ।
जो मां की गोदी में पावे
सुत अमित निश्चल स्वच्छन्द ॥

यही चाहता चित माता की
गोदी में निशि दिन विचरूं ।
तन मन धन उसको अर्पित कर
उसके प्रेरित कर्म करूं ॥

और नहीं कुछ मातु कामना
शान्त दान्त तव भक्त बनूं ।
रहे न चंचलता लव मन में
बस तुझ में ही अनुरक्त बनूं ॥

योगिराज अरविन्द देव की
माताजी की शक्ति मिले ।
कभी नहीं जो विचलित होवे
ऐसी मुझ को भक्ति मिले ॥

श्री अरविन्द का आश्रम

(डा० सी० आर० रेड्डी, वाइस-चांसलर, आंध्र यूनिवर्सिटी)

१६४८ दिसम्बर में अज्ञात घटना-चक्र द्वारा मेरे वश से परे की एक शक्ति मुझे पांडिचेरी आश्रम में श्री अरविन्द और भगवती मां के समीप खींच लायी। वहां मैंने थोड़े से दिन अनुप्रेरित आनन्द के वातावरण में बिताए। सम्भवतः उस समय अधिकांशतः मैं अपनी सुधबुध खोया रहता था। मुझे किसी महत्तर चीज ने पकड़ लिया था। आश्रम से मैं अत्यधिक अनिच्छा से वापस आया। मैं बार बार यह स्मरण कर हर्षित होता रहता हूँ कि मेरे उसके लिये अयोग्य रहते हुए भी प्रभु श्री अरविन्द की निष्कारण कृपा और श्री मां की अकथनीय दयालुता के कारण मेरा कैसा आश्चर्य-जनक स्वागत हुआ।

अभी मैं आन्तरिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बातों पर विचार नहीं करना चाहता। अभी मेरा विषय है आश्रम का वाह्य स्वरूप और महत्व और उससे उत्पन्न मेरे विचार। इस आश्रम का महत्व केवल हिन्दुओं ही के लिये नहीं है वरन् सारी मानव-जाति के लिये है। श्री अरविन्द की शिक्षाओं और उनके अनुशासन में कोई विशेष हिन्दुत्व नहीं है। बात यह है कि आत्मा हिन्दू नहीं है, भगवान हिन्दू नहीं हैं। वे तो सार्वभौमिक हैं। किसी विशेष धर्म-सम्प्रदाय के उद्गम का पता हम किसी विशिष्ट ऊंचाई में पा सकते हैं, उसके देश-काल का भी पता पा सकते हैं, किन्तु गंगा और पवित्रता के लिए उसकी जैसी शक्तिशाली भगिनी नदियां, ये सब तो चिरन्तनता के उसी एक सागर में प्रवेश कर जाती हैं।

इस आश्रम के उपदेशों और अनुशासन का उद्गम वैदिक संस्कृति की रहस्यमयी ऊंचाईयों में है, किन्तु ईश्वर एक हैं, मानव एक है। आत्म का सत्य शरीर, गति, काल और दिव्य-चक्र की सीमाओं से परे होता है। उन सत्यों की सार्थकता सार्व-भौमिक है, चिर शाश्वत है।

आश्रम में ईश्वर-परायण स्त्री-पुरुष हैं। वे विभिन्न धर्म-विश्वासों में उत्पन्न हुए हैं, अधिकांशतः हिन्दू-धर्म में, और ऐसा होना स्वभाविक है, इसका कारण है उनके लिए आश्रम की समीपता और उनके पूर्वजों से आयी हुयी संस्कृति की देन। वहां ईसाई, जोरोअस्ट्रियन, मुसलमान और अन्य सम्प्रदायों के लोग भी हैं। किन्तु जहां तक विश्वास और जीवन की बात है वे सब मिल कर एक हो गये हैं। अतएव आश्रम में प्राप्त किया गया मत-विश्वास सबों की सम्पत्ति है, और यह विश्वास बुद्धि-युक्ति को अस्वीकार भी नहीं करता। अपने जीवन के विकास और पूर्ति के लिए उन्होंने जो अनुशासन अपना रखा है, उस बात में वे सब एक हैं। किन्तु यह एकता

सामंजस्य की है, न कि यान्त्रिक एकरूपता और नीरस एकसुरता की, यह एकता है उस सुरताल के सामंजस्य की, जिससे स्वर्गीय संगीत के मधुर कोरस की तानें निकलती हैं।

श्री अरविन्द के विषय में नासमझी के प्रश्न—

यह एक शोक की बात है कि श्री अरविन्द-आश्रम का स्वरूप सब जगह ठीक ठीक नहीं समझा गया है। और जहां इसे नहीं समझा गया हो वहां इसका मूल्य नहीं आंका जा सकता। इसके कुछ ऐसे आलोचक रहे हैं जो मेरे विचार में इस आश्रम को समझ नहीं पाये हैं और इस कारण वे इसके मूल्य की प्रशंसा नहीं कर सके।

ऐसे आलोचकों में से एक ने यह आश्चर्य प्रकट किया है कि हाल में आन्ध्र विश्वविद्यालय जब अपने दीक्षान्त-उत्सव पर 'मानवता में प्रख्यात गुणों' के लिये (Eminent Merit in Humanities) अपना राष्ट्रीय पुरस्कार श्री अरविन्द को अर्पित कर स्वयं सम्मानित हुआ, तो श्री अरविन्द ने, योगी और सन्यासी अरविन्द ने (ऐसा मालूम होता है कि उन आलोचक महोदय के लिए 'योगी' और 'सन्यासी' पर्यायवाची शब्द हैं) विश्वविद्यालय को अपना प्रसिद्ध सन्देश किस भांति दिया। (मैं तो यह कहूँगा कि उस पुरस्कार में 'प्रख्यात' के बदले 'परम' होना चाहिए था।) उन आलोचक महोदय ने इस प्रकार तर्क किया, "श्री अरविन्द ने संसार का परित्याग कर दिया है। तब वे क्यों कर भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनर्निर्माण करने की बात उठाते हैं और अन्य कामों में क्यों अपने विचार प्रगट करते हैं? कहीं यह सब सी० आर० रेड्डी की जालसाजी तो नहीं है? आलोचक का यह भाव स्पष्ट है कि जब, उनके विचार के अनुसार, श्री अरविन्द ने एक बार संसार का परित्याग कर दिया है तो उन्हें फिर संसार के साथ कोई प्रयोजन नहीं रखना चाहिए। मानो, तलाक के बाद किसी को अपनी पूर्व पत्नी से भेंट ही नहीं करनी चाहिए!

एक दूसरे आलोचक हाल में यह लिखते हैं कि वह यह नहीं समझ सके कि रहस्यवादी श्री अरविन्द पांडिचेरी में क्यों रहस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं? थोड़े से चुने हुए अवसरों पर ही लोगों को क्यों दर्शन देते हैं? प्रकाशन (पब्लिसिटी) की आंच में वे क्यों नहीं आते? वे एक सितारा अवश्य हैं, किन्तु वे फिल्मी सितारा क्यों नहीं बनें? आलोचक ने यह भी इशारा किया है कि आश्रम में श्री मां ही सब कुछ हैं और श्री अरविन्द प्रायः शून्य हैं।

मैं इन में से प्रत्येक बात का क्रम से उत्तर देना नहीं चाहता। कार्डिनल न्यूमैन ने अपनी एक पुस्तक की भूमिका में यह बहुत अच्छी तरह दिखला दिया है कि आत्मा और अध्यात्म के क्षेत्र के विवादों में प्रत्येक बात का क्रम से उत्तर दे देना पर्याप्त नहीं होता। यहां जिस चीज की आवश्यकता है, वह यह कि इस

क्षेत्र में जिस जीवन की मांग की जाती है और जीवन जैसा होता है, उसके स्वरूप की व्याख्या की जाय। और यह व्याख्या मानव भाषा और विचार द्वारा जितनी दूर तक संभवतः हो सकती है उतनी दूर तक उसीके द्वारा करनी है ; बात यह है कि मानव भाषा और विचार की सीमाएं हैं। यदि इससे भी बात समझमें न आय और विश्वास न आय तो फिर ऐसा और कोई उपाय से नहीं होने को। जहां यह चीज असफल होती है वहां तर्क नहीं जीत सकता।

यह कोई पहली बार नहीं है कि श्री अरविन्द ने सांसारिक महत्त्व के सन्देश दिए हों। जब श्री अरविन्द ने यह घोषणा की कि भारत की और ससार के एक अच्छे से टुकड़े की मुक्ति हिटलर और और उसकी आसुरी सेनाओं पर मित्र राष्ट्रों के विजय पाने पर निर्भर करती है तो उन्होंने भविष्य को देख एक दूरदर्शी बात कही। असुरों के साथ सुरों की, अन्धकार की शक्तियों के साथ ज्योति की शक्तियों की लड़ाइयों में श्री अरविन्द सदैव सुरों के, ज्योति की शक्तियों के पक्षमें रहे हैं। वे जो प्रकाश देते हैं वह स्थिर और शाश्वत होता है। किसी सामयिक सुयोग से जल्दीबाजी करके लाभ उठा लेने और असाधारणता प्रदर्शित करने वाली किसी क्षणिक चाल की बात कर वे कभी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं करते।

सन्यासी और ऋषि के विषय में भ्रांति

जिस गलत धारणा को दूर करने का प्रयत्न मैं कर रहा हूँ उसके मूल में यह भ्रान्ति हैं कि श्री अरविन्द सन्यासी हैं, उन्होंने संसार का परित्याग कर दिया है और अतः इसमें फिर प्रवेश पाने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। यहां 'सन्यासी' और 'ऋषि' के बीच गड़बड़ घुटाला कर दिया गया है। इन आलोचक महोदय ने जो बात कही है वह सन्यासी के विषय में सच्ची हो या न हो, ऋषि के विषय में तो वह सच्ची नहीं है। और श्री अरविन्द ऋषि हैं।

संसार का परित्याग, पूर्ण और अन्तिम, करुणाशील व्यक्तियों के लिए सम्भव नहीं। वे उन सब का परित्याग कर सकते हैं जिनका पूर्ण ज्योति या शक्ति से मेल नहीं खाता, किन्तु संघर्ष करती हुई, दुःखों से ग्रस्त दुनिया को उस की ओर सहायता का आरामदायक हाथ बढ़ाए बिना नहीं छोड़ सकते। सुकोमल हृदय वाले व्यक्ति, जिनकी आत्मा में दया रहती है और शब्दों में शक्ति, वे मानव प्राणियों के भाग्य की ओर उदासीन नहीं रह सकते। सन्यासी की ऐसी भावना हो सकती है कि सारी चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए उसे अन्य लोगों के लिए भी सारी चिन्ताएं छोड़ देनी हैं। किन्तु ऋषि का मार्ग यह नहीं है, बोधिसत्व का मार्ग यह नहीं है, पांडिचेरी आश्रम के प्रभु श्री अरविन्द और श्री मां का मार्ग यह नहीं है। यदि निर्वाण में भी प्रवेश किया जाय तो करुणाका सन्देश, मिशन पूरा

हो जानेपर ही, उसके पहले नहीं। और यही कारण है कि हमारे उद्धारकर्त्ताओं में ज्ञान, शक्ति एवं करुणा की पवित्र त्रिवेणी रहती है! वे हमारे बीच रहते हैं और हमारे लिए हैं। वे इस कठोर पृथ्वी को दिव्य स्वर्ग की ओर चढ़ने के लिए नीचे की सीढ़ियां मानते हैं, न कि उसकी संक्षिप्त मेल न खा सकने वाली विपरीत और विरोधी कोई चीज, जिसका तिरस्कार और परित्याग करना आवश्यक हो।

वस्त्र और जगत् का परित्याग करने वाला सन्यास वैदिक भावना से विजातीय है। ससार का परित्याग करने का सिद्धान्त एक बाद में आयी हुई चीज है और यह शायद उस समय की उपज है जब हमारी जाति की ओजस्विता क्षीण हो गयी थी और पराजय, निराशा तथा विषाद के सकटों में गुजर रही थी। किन्तु, ऋषि तो सन्यासी नहीं थे। सन्यासी के अतिरिक्त वे और कुछ भी भले ही हो सकते थे। वे द्रष्टा थे, वे सत्यों के सम्पर्क में आये और उन सत्यों को उन्होंने देखा और अनुभव किया और औरों के सामने प्रगट किया। वे सत्य शाश्वत और चिरसत्ताशाली हैं। उन्हें न देवोंने बनाया ही और न उन्हें बिगाड़ ही सकते। किसी जादू से नहीं, वरन् अपने आध्यात्मिक अनुशासनों द्वारा, एक प्रकृति-सिद्ध मार्ग द्वारा ऋषियों ने ज्योति की खोज की और उन्होंने ज्योति पायी और उसके साथ शक्ति भी। ज्ञान शक्ति है, और आध्यात्मिक ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान से कम नहीं। ऋषि ससार में रहे और फिर ससार ही के लिये वे वनों में चले गए, वहां उन्होंने उपनिवेश बना लिए जिसमें केवल पुरुष ही नहीं थे वरन् स्त्रियां भी रहती थीं। वहां सुन्दर से सुन्दर फल खिलते थे; वहां मनोहारिणी से मनोहारिणी शकुन्तलाएं उत्पन्न होती थीं। वे उस समय की राजनीति में भी भाग लेते थे। और कितनी ही बार उसमें प्रमुख भाग लेते थे। वशिष्ठ ऋषि सूर्यवशी राजाओं का निर्देशन करते रहे। विश्वामित्र अपने समय के अशान्ति मचाने वाले प्राणी थे। यदि वे आध्यात्मिक ज्योति और शक्ति की खोज करते थे तो अगम्य ऊंचाईयों की चोटी पर एकान्त आनन्द लूटने के लिए नहीं, कैवल्य या निर्वाण की प्राप्ति के लिए नहीं, प्रत्युत, हमारे साथ और हमारे वास्ते रहने के लिए, हमें उन्नत होने को सहायता देने के लिए और यदि हम अत्यधिक मूर्ख या उद्दंड प्रमाणित हों तो हमें दंड देने के लिए। उनका आदर्श बुद्ध की अपेक्षा बोधिसत्व अधिक थे। वशिष्ठों और विश्वामित्रों, भृगुओं और अंगिरासों के प्राचीन आश्रम संसार के जीवन से छलके भरे थे किन्तु वह जीवन सांसारिक नहीं था, उनका वह जीवन पृथ्वी पर था, किन्तु पार्थिव नहीं था, उनका जीवन मानव का भला करने और दिव्य देवों के रूपों और पदों तक उसे ऊपर उठाने के लिए था। शिष्यों का वे स्वागत करते थे और जिनमें यथोचित गुण रहते थे उन सबों को वे शिष्य बनाना स्वीकार करते थे। जाबालि निम्न कुल की एक जारज सन्तान था किन्तु वह सत्यकाम था, सत्य का प्रेमी था और अतः उसे विप्र माना गया।

और, आश्रमों का अध्ययन केवल आध्यात्मिक ज्ञान और पुनीत रहस्यों तक ही सीमित नहीं था। शिष्यों को लकड़ियां लानी होती थीं, केवल यज्ञ की अग्नियों को प्रज्वलित करने के लिए नहीं, वरन् आश्रमवासियों के चौकों की अग्नि के लिए भी। पूजा के लिए वे फूल लाया करते थे। धनुष-विद्या और युद्ध-कला को प्रोत्साहन मिलता था। विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण को शक्तिशाली शास्त्रों की विद्या सिखायी थी। कौरवों और पांडवों को शिक्षा देने वाले द्रोणाचार्य ब्राह्मण थे और उनके गुरु अग्निवास थे, किन्तु इन सबसे उनका ब्राह्मणत्व नहीं जाता रहा। क्षत्रियों को युद्ध और शस्त्रों की शिक्षा वे इसलिए देते थे ताकि आसुरी सेनाओं के आक्रमणों से वे हमारे धर्म की रक्षा कर सकें। धर्म-युद्ध में भाग लेना हमारी नैतिकता या आध्यात्मिकता की अवनति नहीं माना जाता था। देवों के अवतार तक भी पृथ्वी पर आकर जो थोड़े समय तक रहे उस बीच उन्होंने भी खून की नदियां बहा दीं और उन नदियों को पार कर वे हमारी जाति की चिर कृतज्ञता और भक्ति के पात्र बन गए।

आर्य संस्कृति जब अपनी उत्तम और विशुद्धत्तम विन्दु पर थी तब उसमें रक्तहीनता, दौर्बल्यता जैसी कोई चीज नहीं थी। यह श्री अरविन्द के अमर गौरव की देन है कि हमारी अवनति की इतनी सारी शताब्दियों के बाद उन्होंने वेदों के सच्चे सिद्धांतों और सच्चे अनुशासनों को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

श्री अरविन्द ने वेदों का रहस्य कैसे पाया ?

श्री अरविन्द की शिक्षा में पाश्चात्य क्लासिक्स (ग्रीक, लैटिन आदि) का प्रमुख भाग रहा। ग्रीक भाषा के वे प्रथम श्रेणी के स्कालर थे। ग्रीक भाषा और सभ्यता 'भाषा' और प्राचीन आर्य सभ्यता की समरूप बहिनें हैं। ऐसा मालूम होता है कि ग्रीक भाषा ने श्री अरविन्द को वह कुंजी दी जिसने हमारी पीढ़ी के लिए वेदों का रहस्य खोल दिया।

श्री अरविन्द यह स्वीकार करते हैं कि वे नहीं जानते कि प्रत्येक धर्म के मर्म में कोई रहस्य क्यों रहता है ? किन्तु, बात ऐसी ही है। हम इसका क्यों और कहाँ भले ही नहीं समझ सकें, किन्तु सब धर्मों की गहराईयों में, ठीक केन्द्र में एक रहस्य रहा है। एक ही उदाहरण लें, तो ग्रीक धर्म में एलियुसीनियन (Eleusinian) रहस्यमयता थी। यही वह विचार मालूम होता है जिसने श्री अरविन्द से वेदों की कुंजी की खोज करवायी और उसे ढूंढ़ निकलवाया।

सब लोगों की भांति श्री अरविन्द ने भी हिसिअद, होमर और हमारे वेदों के बीच बहुत घनी सादृश्यता देखी थी। इनमें से किसी धर्म में विषाद की कालिमा कहीं नहीं थी। हेलस का धर्म बलिष्ठ देवों और सुन्दर देवियों से भरा हुआ था और

वे देव-देवियां मानव स्त्री-पुरुषों के बीच स्वच्छन्दता से विचरण करते थे, व्यवहार करते थे और उनके वैवाहिक सम्बन्ध तक भी होते थे जिसके फलस्वरूप प्रख्यात नायकों और नायिकाओं की उत्पत्ति होती थी। यह बात वैसी ही है जैसी कि आर्यावर्त्त के इतिहास की प्रातः ऊषा में पायी जाती है। जेअस, हेरा, एपोलो, एथेने और आफ्रोदित—क्या ये वैदिक देवसमाज के देवों के प्रतिरूप नहीं हैं? उस समय देवों को मानव पराजित कर सकता था। इस से यह स्पष्ट है कि मानव के अन्तर में निहित आध्यात्मिक सर्वशक्तिशालिता मानी जाती थी और मानव द्वारा देवों की पराजय होना इसी चीज का प्रतीक है। उस समय स्वर्ग और पृथ्वी के बीच वह सुस्पष्ट और निराश विभाजन नहीं माना जाता था जो कि उस समय के बाद से माना जाने लगा है। देवों और देवियों के रक्त से भरी हुई नसों वाले स्त्री-पुरुष प्रफुल्ल और शक्तिशाली होते थे, आशा और उल्लास से भरे होते थे। जहां कहीं उनके पैर पड़ते थे वहाँ फूल खिल उठते थे। पृथ्वी हो या स्वर्ग, वे जीवन का आनन्द उठाते थे और उन्हे इस बात की कोई आशंका नहीं थी कि ऐसा करने से उच्चतम स्वर्ग तक जाने या ऊपर जिस लोक में अच्छे प्राणी उठ जाते हैं वहां तक जाने का अधिकार वे खो देंगे।

और फिर भी, ग्रीस के इस उज्ज्वल और उल्लासपूर्ण धर्म के मर्म में एक गभीर तत्व था, एक रहस्य था, जो जन साधारण की आंखों से ओझल रहता था, किन्तु शिष्यों को स्पष्ट किया जाता था। इस रहस्यमयता का कोई सर्वप्रिय हर्षपूर्ण उत्सव नहीं मनाया जाता था प्रत्युत इसे जन साधारण को न समझने वाले समूह से दूर छिपा कर रखी जाने लायक एक गभीर, पुनीत और आदरणीय वस्तु माना जाता था।

और, वैदिक तथा ग्रीक दर्शनों में एक और सादृश्यता है। ग्रीस के देवगण एक निर्व्यक्तिक विधान और नियति के अधीन रहते थे जिसमें उनसे अधिक शक्ति होती थी। निस्सन्देह, देव महान होते थे, किन्तु उनसे भी अधिक महत्तर, अधिक शक्तिशाली कोई चीज होती थी। उसी प्रकार हमारे यहां भी नियति और कर्म का एक विधान था जो कि सभी व्यक्तियों से ऊपर, देवों से भी ऊपर प्रबल होता था। "शिव भी अपने कर्मों के फल से नहीं बच सकते।"

श्री अरविन्द ग्रीक के प्रकांड स्कालर थे और हमारे प्राचीन वैदिक ज्ञान में भी पारंगत थे और उन्हें यह विचार खटका कि वेदों के अन्दर कोई रहस्य अवश्य रहा होगा। और, रहस्य था। उन्होंने उन रहस्यों की खोज की और जगत् के सामने उन्हें प्रकट किया।

श्री अरविन्द का दर्शन-शास्त्र एक अर्थ में वास्तविक तथ्यात्मक है। अपनी ऊंची से ऊंची महान उड़ानों में भी वह वास्तविक तथ्यों, अनुभूतियों और वैयक्तिक उपलब्धियों पर द्रष्टा या ऋषि की दृष्टि पर आधारित है। स्वर्ग की ओर वह मेघों

के स्तम्भ को भांति उठता है किन्तु पृथ्वी से वह साधना के परों पर ही उड़ता है।

मोटा मोटी बात करें तो ऐसा कह सकते हैं कि वेदों का अर्थ दो प्रकार से लगाया गया है—कर्मकांडी और प्राकृतिक। पहला यह है कि यज्ञों तथा अन्य कर्मकाडों को यथोचित छन्दों या मन्त्रों के साथ करने से हम देवताओं को हमें पशु, अश्व और अन्य इच्छित भौतिक पदार्थों को प्रदान करने के लिए वाध्य करते हैं। यदि तप उचित रीति से किया गया हो तो हम कितना ही भयंकर या खतरनाक वर मांगें ब्रह्मा भी वे वर देने को वाध्य हैं।

दूसरा है प्राकृतिक। इसके सस्थापक हम यास्क को मान सकते हैं। वे वैदिक ऊषा, वृत्त, इन्द्र, अग्नि, आश्विन तथा अन्य-देवियों में प्रकृति के विभिन्न मूर्त्त रूप देखते हैं।

एक तीसरे प्रकार से भी अर्थ लगाया जाता है, वह है श्री अरविन्द का अर्थ। वे वैदिक ऋचाओंमें, छन्दों में, बहुत वास्तविक और ऊंचे महान अध्यात्मिक सत्य पाते हैं। जब ऋषिगण यज्ञ करते थे और इन्द्र से 'गौ' या अश्व के लिए प्रार्थना करते थे तो उनका उद्देश्य थोड़े से गाय-घोड़े मांगने का तुच्छ उद्देश्य नहीं रहता था। पहाड़ खोदकर ऐसी चुहिया निकालने के लिए वेदों में ऐसे कर्मों के विधान नहीं होते थे। अतएव, इसका अर्थ यह निकला कि गौ और अश्व से और किसी चीज की ओर, मानव के जीवन और प्रगति के लिए किसी महत्तर और अधिक उच्चतर महत्व की चीज की ओर संकेत होगा। श्री अरविन्द आश्चर्यजनक स्पष्टता और युक्तियों से यह प्रमाणित कर देते हैं (श्री अरविन्द की अध्यात्मिकता बुद्धि-युक्ति से विलकुल सलग्न रहती है।) कि गौ का अर्थ सूर्य की किरणों से आने वाले प्रकाश की नाईं आने वाली ज्योति था, और अश्व का अर्थ बल होता था, घोड़ा नहीं। और ऋषिगण, ज्योति और बल क्यों प्राप्त करना चाहते थे? एक निर्बोध युवती अपना सौन्दर्य आइने में देखती है और उसी पर सोचती रहती है, उस प्रकार स्वय को देखने के लिए नहीं। ज्योति और शक्ति को, सर्वदर्शिता और सर्वशक्तिशालिता को पाने का प्रयास तो वे जगत् को सहायता देने के लिए और देवों के लोक तथा पद तक पहुंचने के मार्ग में और प्रगति करने के लिए विविध स्थितियों के रूप में करते थे।

और अब हम इस असाधारण आश्रमके स्वरूप को, जहां कि जीवन और जीवनका आनन्द आध्यात्मिकता और अध्यात्मिक प्रगति के सुखद सयोग में घुलमिल गये हैं, हम कुछ थोड़े से अंश में समझ सकते हैं। वेदों से यह पौधा उखाड़ा गया है और पांडिचेरी में रोपा गया है।

आश्चर्यजनक श्री मां और सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था—

आश्रम की निर्देशिका प्रतिभा, वे आश्चर्यजनक श्री मां और अनुप्रेरक आत्मा,

वे प्रभु श्री अरविन्द—इन में हम पुरुष और प्रकृति का रूप देख सकते हैं जिन से सत्य और जीवन, प्रकाश और आनन्द प्रस्फुटित होते रहते हैं।

प्रातःकाल में आश्रमवासी श्री मां के कमरे की बाल्कनी (Balcony) के नीचे वाली सड़क पर जमा हो जाते हैं। बाल्कनी में करुणामयी श्री मां आती हैं और दर्शन देती हैं, कुछ क्षणों तक उनकी ओर हिलती-डुलती देखती रहती हैं, मुस्कुराती हुयीं, प्रफुल्ल एवं दीप्तिमयी, दिव्यता की किरण की नाईं—ऊषा की भांति। यदि किसी ने ऐसा सोच रखा हो कि देवी मां को अपनी आध्यात्मिकता के साक्षी स्वरूप कठोर वैरागी की नीरसता अपनानी चाहिए और सदैव भृकुटि तानी रखनी चाहिए तो वह भ्रम में है। श्री मां वैसी वैरागिनी नहीं हैं! वे तो टेनिस खेलती हैं! देव सदैव प्रफुल्ल उज्ज्वल जो रहते हैं। इस दर्शन के समय स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का बड़ा जमघट रहता है, उनके हृदय में रहती है भक्ति और उनकी आंखों में, बातचीत में, और व्यवहारों में रहते हैं प्रेम, प्रकाश और हर्ष। वहां कुछ भी अंधियाला नहीं। यह तो सारे अंधकार को दूर करने वाला मंगल-प्रभात होता है।

कुछ घण्टों के बाद श्री मां नीचे आती हैं और फूलों की देवी 'फ्लोरा' की भांति आसन ग्रहण करती हैं और उनके पास में विभिन्न रंगों सुगन्धों से भरी टोकरियां रहती हैं। स्नान किए पुरुष, स्त्रियां और बच्चे प्रफुल्ल श्रद्धा, प्रेम और आदर से सिंचित हो उन्हें प्रणाम करने आगे जाते हैं और श्री मां उन्हें आशीर्वादऔर फूल देती हैं। तब लोग महत्वपूर्ण महान् सत्यों पर बातचीत करने के लिए विभिन्न समूह बना लेते हैं या प्रत्येक व्यक्ति ध्यान, चैत्य-अनुशासन और साधना का अभ्यास करने को अपने अपने स्थान को लौट जाता है। साधना है आध्यात्मिक अनुभूति और उपलब्धि करने का, बोध प्राप्त करने का, सच्ची दृष्टि प्राप्त करने और द्रष्टा बनने का मार्ग। धूलि-धूसरित संसार की भांति यह आश्रम शुष्क नहीं है। इस संसार से परे वह एक संसार है, किन्तु फिर भी हमारे वैदिक ऋषियों के आश्रमों की भांति वह इस संसार में रह रहा है और संसार ही के लिए वह है।

इस उपनिवेश के स्त्री-पुरुष अधिकांशतः सम्मिलित भोजन ही करते हैं। वहां आध्यात्मिकता में प्रगति करने के लिए भूखों मरना आवश्यक नहीं माना जाता। भोजन साधारण होता है और आश्रम की स्त्रियां उसे पकाती हैं। भोजन में काफी पौष्टिकता रहती है और स्वास्थ्य के नियमों का उसमें पूर्ण पालन होता है। और, स्त्रियों को इस सेवा-कार्य से अपने आत्मा की प्रगतिमें सहायता मिलती है।

एक गोशाला है जहां मैंने कुछ सुन्दर पशु देखे। आश्रम के लिए वहीं से दूध आता है।

एक बगीचा है और वहां की साग-तरकारी का बाग तो मेरे देखे हुए उत्तम बागों में से है, और बागों तथा साग तरकारी के बागों का मैं बुरा जज भी नहीं हूँ।

एक 'बेकरी' है और वहां से सुस्वादु, पौष्टिक पावरोटी आती है। एक लान्ड्री और साबुन का छोटा-सा कारखाना भी है।

बौद्धिक विकास की भी अवहेलना नहीं की जाती। एक प्रथम श्रेणी का छापाखाना है जिसमें नये-से-नये मोनोटाइप तथा अन्य मशीनें हैं। पढ़ने के लिए पुस्तकों की बहुतायत है, एक सुन्दर पुस्तकालय है और वहां विभिन्न पत्र-पत्रिकाएं आती हैं।

पोशाक और व्यवहारों में गन्देपने को और आचरण की असंस्कृतता को आत्मा की विमलता और पूर्णता के लिए सहायक नहीं माना जाता। महान् कालिदास ने कहा था "शरीरं आद्यं खलु धर्म साधनंम्"। और अतएव वहां के साधक डीसेन्ट, सुन्दर, स्वच्छ, साधारण और अच्छे लगने वाले कपड़े पहन कर घूमते हैं। एक अतिथि-गृह भी है जहां यूरोपियन सुविधाएं प्राप्त हैं। मैं आशा करता हूँ कि इसे पवित्रता और राष्ट्रीयता का दुहरा उल्लंघन नहीं माना जायगा।

किन्तु बहुत-सी बातों में वहां की जिन चीजों ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, वे हैं आश्रम के शिक्षालय और उनमें व्याप्त प्राचीन बल और आनन्द की भावना। मधुरता, ज्योति, और कोमलता की मूर्त्ति, श्री मां ने आश्रम के स्कूलों के छात्र-छात्राओं को खेल-कूद, और शारीरिक व्यायाम का प्रदर्शन करने की आज्ञा दी। मैंने अपने आप को कहा—"यदि सारे स्कूल ऐसे ही हो जायं तो क्या भारत अन्दरूनी या बाहरी शत्रुओं से अजेय न हो जाय?" उनकी परेड अत्यधिक उत्तम थीं। उन्हों ने व्यायाम केवल सही तरीकों से ही नहीं, वरन् प्रफुल्लता से किए। लड़कियों की पोशाक पैंट और टाइट फिट होने वाली जाकिटें थीं। उन्होंने 'वाल्टिंग' (लम्बी और ऊंची कूदें) जैसी खतरनाक कसरतें भी कीं। यद्यपि इनमें, अगर उनके जीवन को नहीं तो शारीरिक अंगों को तो दुर्घटना का खतरा था तथापि वे प्रफुल्ल दृष्टि और विश्वासपूर्ण मुस्कुराहट के साथ शान्त, स्थिर और दृढ़ भाव से आगे बढ़ती थीं और किसी एक भी व्यवधान या विफलता के बिना उन्होंने सारी कसरतें कीं। हमारे सन्यासी आलोचक इस बात पर आंखें फाड़ ले सकते हैं कि श्री मां जिनमें सारी मधुरता और कोमलता भरी है हमारी लड़कियों को मानो यौगिक 'एमोजों' (पाश्चात्य पौराणिक कथाओं में स्त्री-योद्धाएं) की सेना के रूप में क्यों सगठित कर रही हैं। किन्तु फिर भी उन लड़कियों में स्त्रियोचित सौन्दर्य, लालित्य और कमनीयता की कमी नहीं है। श्री मां ने मुझ से कहा था कि कलकत्ते के हत्याकांड और वह हमारी स्त्रियों और बच्चों पर किए गए जघन्य पाशविक अत्याचारों से ही उनमें यह विचार आया कि अपने स्कूलों के छात्रों और छात्राओं को आत्म रक्षा कर सकने में समर्थ समूह के रूप में संगठित किया जाय। इसके मूल में वह महान् वैदिक विचार भी है कि सबल शरीर के बिना तुम्हारा आत्मा सबल नहीं हो सकता, संकट में अविचल दुर्जेय नहीं रह सकता और निर्बलों और निस्सहायों की रक्षा

करने के सब धर्मों के मूल सिद्धान्त के महान् कार्य को करने के लिए तत्पर रहने की क्षमता प्राप्त नहीं कर सकता।

राष्ट्र की आवश्यकता और श्री अरविन्द का कार्य

दूसरी आलोचना यह होती है, तब श्री अरविन्द क्योंकर संसार से दूर रहते हैं? वे क्यों नहीं बाहर निकल जाते? क्या हम उनसे कोई अधिक दूरदर्शी या शक्तिशाली नेता पा सकते हैं? मेरा उत्तर यह है—पांडिचेरी में श्री अरविन्द के एकान्तवास में क्या हानि है? आध्यात्मिक अनुशासनों, एकाग्रीकरण और तपश्चर्या के लिए उचित वातावरण ढूंढ़ने को तपोवनों में चले जाने का साधन प्रायः करके अपनाया जाता था। धार्मिक नेताओं ने एकांतवास से मानसिक और आध्यात्मिक क्षमता और प्रगति के लिए सबल सहायता पायी है। यदि ऋषि श्री अरविन्द अपना समय और अपनी शक्ति संसार की प्रगति में सहायता देने के लिए लगा रहे हैं और उस कार्य के लिए सुसज्जित हो रहे हैं तो उनमें दोष ढूंढ़ने से हमारा क्या वास्ता पड़ा है? क्योंकि, इस प्रकार के विचारों में यह बात निहित है कि उन द्रष्टा को क्या क्या करना चाहिए यह जानने के लिए स्वयं उन से अधिक योग्यता हम में है। मेरे अनुमान में इस विचार का कारण धृष्ठता की अपेक्षा अज्ञान अधिक है। क्या हम श्री अरविन्द पर इतना भरोसा नहीं कर सकते कि वे अपना महान् उद्देश्य पूरा करने और उसके लिए आवश्यक ज्योति और शक्ति प्राप्त करने का कौन-सा साधन किस तरह अपनावें, इतना वे जानते हैं? कम-से-कम मुझे तो इतना विश्वास नहीं है कि परम गुरुदेव को मैं यह कहूँ कि उन्हें कौनसे स्कूल में जाना है और कौनसे पाठ पढ़ने हैं?

किन्तु व्यक्तिगत रूप से बोलते हुए, और जिनके नियमों को पूर्ण आज्ञापालन-शीलता से स्वीकार करने की भावना रखता हूँ उनके लिए कोई नियम बनाने का जरा भी अभिप्राय रखे बिना, मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं कोई कारण नहीं देखता कि अब, जब कि भारत पराधीन नहीं रह गया तब श्री अरविन्द अपने पवित्र चरणों से इस भूमि को क्यों न पवित्र करें और करोड़ों प्राणियों को अपने दीप्तिमान् व्यक्तित्व से क्यों न प्रेरित करें? मैं कोई कारण नहीं देखता। इसका अर्थ यह नहीं होता कि कोई कारण है ही नहीं। यह प्रभु श्री अरविन्द के निर्णय करने की चीज है। किन्तु मद्रास, और भारत के सारे शहर और अधिक विशेषतः बंगाल और पंजाब के पीड़ित प्रान्तों को उनके आध्यात्मिक स्पर्श और जीवन-दायक उपस्थिति से प्रसन्नता होगी। किन्तु उनके लिए राह और साधन बताने योग्य मैं नहीं हूँ। मैं जानता हूँ कि श्री अरविन्द इन कार्यों और अन्य मानव हित के कार्यों को केवल भारत में ही नहीं वरन सारे विश्व में अपने निजी मार्ग से,

और जिन साधनों और उपायों को वे उत्तम और सब से अधिक शक्तिशाली समझते हैं उन सब के द्वारा प्रोत्साहन दे रहे हैं; अतएव, जहां मेरी दृष्टि नहीं पहुँच पाती, वहां विश्वास करता हुआ, मैं अपनी बात यहीं छोड़ देता हूँ।

वैदिक आश्रम के इस वर्त्तमान काल के प्रतिरूप में चार दिन बिताकर मैं मद्रास आने को पांडिचेरी से चला आया। किन्तु, क्या मैं चला आया? या चला आने वाला केवल मेरा शरीर ही है?

('मदर इण्डिया' से)

मुख्य आवश्यकता

यह पूछने से बिलकुल ही कोई लाभ नहीं है कि कौन तथा किस मार्ग के अनुगामी लक्ष्यस्थान पर पहले पहुँचेंगे। आध्यात्मिकता कोई होड़ का क्षेत्र नहीं और न यह कोई दौड़ ही है, अतः यह प्रश्न महत्व नहीं रखता। जो बात महत्व रखती है वह है भगवान के लिये स्वयं हमारी अभीप्सा, हमारा विश्वास, हमारा समर्पण, हमारी निःस्वार्थ आत्म-दान।

श्री अरविन्द

मानव और उसकी साधना

(लेखक :- श्री महावीर शरण अग्रवाल)

प्रत्येक मनुष्य मात्र उच्च पद पर पहुंचने का प्रयत्न करता है परन्तु यह पथ बहुत ही कठिनाइयों से भरा पड़ा है और इसमें जरा सी भूल मनुष्य को कहीं का कहीं गिरा देती है। मनुष्य को चाहिये कि जीवन को साधना में बनाकर चले। साधना और सयम के बिना मानव भोग विलास के खतरे में फंस जाता है। मनुष्य में एक आंतरिक शक्ति है जो उसे सीधे पथ पर ले जाती है परन्तु जब अज्ञान की ठोकर लगती है तो मनुष्य को अपने सन्मार्ग से भ्रष्ट होना पड़ता है। मनुष्य के अंतस्तल में एक दिव्य शक्ति विराजमान है जो समस्त विरोधी शक्तियों से संग्राम करती है और अंत में विजय की ध्वजा फहराती है।

अंधकार अपनी पराजय से पराजित नहीं होता अतः ऐसे समय की खोज में रहता है जबकि वह फिर से आक्रमण कर सके। यही सग्राम मानव जीवन है। अगर इस प्रकार भीतरी दिव्य शक्ति संग्राम न करे तो मनुष्य ऊपर की तरफ अग्रसर नहीं होगा, सदा नीचे के अंधकार में ही पड़ा रहेगा। भोग विलास की मदिरा में मतवाला रहेगा। इससे बचने के लिये वह ऊपरी दिव्य शक्ति की सहायता भी ले सकता है और उसका अपने में अवतरण भी कर सकेगा। जब दिव्य शक्ति का अवतरण उसमें होगा तो भीतर की अवस्था कुछ और ही हो जाती है, शरीर का तेज अपने असली रूप में आकर एक नूतन रूप ग्रहण कर लेता है। इस तरह शक्ति के अवतरण से मनुष्य की अवस्था बदल जाती है—मुख पर गम्भीरता, नयनों में प्रेम की मदिरा, होठों पर मोहिनी मुस्कान। मुस्काने की झलक बिल्कुल निराली होती है। शांति और आनन्द के क्षेत्र में उसकी अवस्था कुछ और ही हो जाती है। उस समय मनुष्य इस भू पर नहीं, किसी अन्य लोक में होता है। गम्भीर विचारों का अवतरण होता है और उस अवस्था में मनुष्य का जीवन बदल जाता है। इस तरह के जीवन में एक नूतन आनन्द की झलक मिलती है और कुछ विचित्र से नूतन विचारों का भास होता है। हृदय की अवस्था कुछ और ही हो जाती है, और जीवन का दृष्टिकोण कुछ बदला सा प्रतीत होता है प्यारे प्रभु की याद और उसकी मधुर मुस्कान की छलक जीवन के अंधकार को प्रकाशमय बना देती है। कैसी अनुपम दशा है उस जीवन की! जीवन संग्राम का कैसा आनन्द! और कैसी ज्योति है उस प्रियतम की!

—

सम्पादकीय

'मा'

'मा' के प्रकाशन की एक कहानी है। एक मनोरंजक कहानी। किन्तु हम यहां कहानी लिखने नहीं बैठे हैं। और न अपनी योग्यता या अयोग्यता का बखान ही करने। हम बहुत ही थोड़े से शब्दों में अपने हृदय के अन्दर की एक बात कहना चाहते हैं। वह केवल इतनी भर ही है कि यदि हम अपनी बुद्धि और शक्ति के सहारे कुछ करना चाहते तो उसका फल वही होता जैसा कि हुआ करता है। श्री मां की निष्कारण कृपा के भरोसे ही यह सब कुछ हुआ है, और इसमें जो कुछ भी न्यूनताएं रह गयी हैं वे निश्चय ही उस व्यक्ति की हैं जिसने इसे कार्यरूप में परिणत करने का भार लिया है। और हमारा यह विश्वास है कि ज्यों ज्यों हम श्री मां के प्रति उन्मीलित होते जायंगे हमारी अपूर्णताएं दूर होती जायंगी। किन्तु, अपनी न्यूनताओं को स्वीकार करते हुए भी इसे श्री मां की चीज कहने का साहस हम कर सकते हैं और जिनकी यह चीज है उन्हीं के चरण-कमलों में यह निवेदित है।

'मा' का उद्देश्य—

'मा' का उद्देश्य क्या है? यह एक सगत प्रश्न है। प्रथम पृष्ठ पर केवल इतना ही लिखा है–मा, एक द्वैमासिक पत्रिका। पत्रिका को समूची पढ़ लेने से इसका अन्दाजा लग सकता है कि हमारा उद्देश्य क्या है। परन्तु, पत्रिका निकालने का निश्चय करने के डेढ़ मास के अन्दर ही प्रथम अंक बाहर जा रहा है। प्रगटतः समय कम रहा और इसका रूप ठीक ठीक वैसा न हो सका जैसी कि हमारी चाह थी। अतः अपना उद्देश्य प्रगट करने के लिए दो शब्द लिखना आवश्यक हो गया।

श्री मां ने एक बार कहा था "हमारा ध्येय न राजनीतिक है और न सामाजिक ही। हमारा ध्येय है आध्यात्मिक। हम जो चाहते हैं वह है वैयक्तिक चेतना का रूपांतर, किसी शासनतन्त्र या हुकूमत का परिवर्त्तन नहीं। उस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए हम किसी भी मानवीय साधन में, वह साधन चाहे कितना ही बल, कितनी

ही क्षमता रखता हो, उसमें भरोसा नहीं करते। हमारा विश्वास भरोसा केवल भगवत्कृपा में ही है।"

बस यही हमारा उद्देश्य है।

आप क्या चाहते हैं ?

महर्षि रमण से एक सज्जन ने प्रश्न किया कि जब मैं इतनी बार उन्नत होने के लिए, अधिक विशुद्ध बनने के लिए, भगवान से प्रार्थनाएं करता हूँ, तो वे मेरी प्रार्थनाएं क्यों नहीं सुनते। महर्षि ने उत्तर दिया, "क्योंकि, यदि वे सुन ली जातीं तो फिर कभी तुम उनसे प्रार्थना ही नहीं करते।"

महर्षि रमण परिहास प्रिय हैं। उनका यह उत्तर भी परिहास से भरा पड़ा है। हो सकता है, उन प्रश्नकर्त्ता सज्जन के लिए यही उत्तर उपयुक्त रहा हो।

परन्तु, हमारा विकट मन तो परिहास या व्यंग से चुप नहीं हो जाता। वह तो अपने तर्कों और सन्देहों से अपना तरकस भरा रखता है। वह तो समझकर भी नहीं समझना चाहता! और फिर, यह प्रार्थना वाली समस्या कितनी पुरानी है, और कितने ही सच्चे उत्तर इसके लिए दिए जा चुके हैं।

"भगवान से प्रार्थना करो, वे अवश्य ही पूरी करेंगे।"

"मैंने भगवान से कितनी ही प्रार्थनाएं कीं। परन्तु उनमें से कुछ ही पूरी होती हैं।"

संक्षेप में, यही समस्या है। और फिर, हम यह कहते हैं, "चूंकि हमारी सारी प्रार्थनाएं भगवान पूरी नहीं करते, इसका अर्थ यह निकला कि वे सर्वशक्तिमान् ही नहीं हैं।"

श्री अरविन्द ने अपने एक पत्र में लिखा है :—

"प्रार्थना के विषय में कोई नपा तुला कठोर नियम नहीं बांधा जा सकता। कुछ प्रार्थनाओं का उत्तर मिलता है, सबों का नहीं। तुम पूछ सकते हो, तब सारी प्रार्थनाओं का उत्तर क्यों नहीं मिलना चाहिए ? किन्तु भला, सबों का उत्तर मिलना ही क्यों चाहिए ? यह कोई मशीन तो है नहीं कि बतायी हुई जगह में अपनी प्रार्थना की अर्जी रख दी और अपनी मांगी चीज पा ली।"

हम वजन तौलने की ओटोमेटिक मशीन पर खड़े हो जाते हैं, उसके छेद में इकन्नी डालते हैं और अपने वजन की टिकट पा लेते हैं। शायद उसी तरह का सम्बन्ध हमने भगवान और प्रार्थना के बीच भी सोच रखा था!

आगे चल कर श्री अरविन्द लिखते हैं —"फिर इसके अतिरिक्त मनुष्य मात्र एक साथ ही इतनी सारी विपरीत, विरोधी चीजों की मांगें करते होते हैं कि यदि भगवान को उन सबों की पूर्ति करनी पड़े तो उनकी हालत दयनीय हो जायगी। ना ऐसा नहीं होने का।"

हम इस बात को क्यों भूल जाते हैं कि हम तो इतना भी नहीं जानते कि हमारे लिए सबसे अच्छी चीज अभी क्या है। हम तो पर्दे के पीछे की चीज देखते नहीं, आगे की बात देखते नहीं और फिर भी अपने बारे में, जगत के बारे में, भगवान् बारे में फैसला देते रहते हैं।

इस विषय में बातें करते हुए श्री मां ने एक दृष्टान्त दिया —"एक नौजवान आदमी योग करना चाहता था। परन्तु उसका पिता नीच और क्रूर था, वह उनको बहुत कष्ट देता और योग साधना करने से रोकने की चेष्टा करता था। उस नौजवान की तीव्र इच्छा हुई कि वह अपने पिता के इस हस्तक्षेप से मुक्त हो जाय। शीघ्र ही उसका पिता बीमार पड़ा, उसका रोग असाध्य हो गया और वह मरने मरने को हो गया। अब उस युवक की प्रकृति का दूसरा भाग जागा और वह अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ विलाप करने लगा, "आह, मेरे पिताजी इतने बीमार हो गए! यह बड़े दुःख की बात है। अरे, मैं क्या करूं?" उसका पिता अच्छा हो गया। युवक को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह एक बार फिर योग की ओर मुड़ा। और उसका पिता भी दूने बलके साथ उसका विरोध करने लगा और उसको सताने लगा। लड़का निराश होकर सर धुनने और विलाप करने लगा कि अब मेरे पिताजी मेरे मार्ग में और भी अधिक बाधक हो रहे हैं।

"सारी बात यह है कि हम इस बात को ठीक-ठीक जानें कि हम क्या चाहते हैं?"

क्या आपने कभी सोचा है "हम *क्या* चाहते हैं?"

हमारा राष्ट्रीय गान

भारत की विधान्-परिषद् ने अपनी आखिरी बैठक में इस देश के राष्ट्रीय गानपर अपना निर्णय दे डाला। इस निर्णय के अनुसार 'जन गण मन' तो हुआ राष्ट्रीय गान और 'वन्दे मातरम्' को भी उसीके समान और प्रतिष्ठित स्थान दिया गया।

यह फैसला एक लचीला फैसला है, एक लादा हुआ हुआ-सा फैसला है। ऐसा मालूम होता है कि कि एक गान की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए भी उसे जबर्दस्ती गौण स्थान दिया गया है।

यदि सच पूछा जाय तो इस प्रकार के समझौते की कोई आवश्यकता नहीं थी। 'सूर' और 'तुलसी' के बीच चुनने का प्रश्न हो तो शायद ऐसा समझौता किया भी जाय, परन्तु यहां तो उस तरह की कोई चीज ही नहीं थी।

'वन्दे मातरम्' वह गान है जिसने भारत की स्वतन्त्रता के लिए भारतवासियों में प्राण फूंके, यह वह गान है जिसने करोड़ों भारतवासियों को सोते से जगाया। यह वह गान है जिसे गाते हुए सहस्रों व्यक्ति शहीद हुए, वह यह गान है जिससे बल पाकर भारत में उस क्रान्ति की नींव पड़ी, जिसके सामने विदेशी सत्ता की नींव उखड़ गयी। परन्तु हम यहां यह नहीं कह रहे हैं कि 'वन्दे मातरम्' को अपना राष्ट्रीय गान न मानकर हमने कृतघ्नता का परिचय दिया है। नहीं, हम तो यह देखना चाह रहे है कि 'वन्दे मातरम्' में क्या ऐसी कोई चीज थी जिसके कारण वह गान इतना सब कुछ कर सका।

हां, 'वन्दे मातरम्' में वैसी चीज है, और 'जन गण मन' में वह नहीं है। 'वन्दे मातरम्' भारत का, वैदिक ऋषियों के भारत का, सनातन भारत का, रहस्यमय भारत की आत्मा का, भारत की सत्यता का, जीता-जागता प्रतीक है। भारत हमारे लिए गिने हुए राज्यों वाला, इतने वनों-पर्वतों वाला, इतने वर्गमीलों वाला कोई भौगोलिक भू-खंड मात्र ही नहीं है। एक भारत माता हैं, सच्ची माता, जीती जागती माता, भगवती माता। उन माता का ऋषि बंकिम ने दर्शन किया और उस ऋषिने माता की वन्दना की। कोई आश्चर्य नहीं, कि बंकिम का 'वन्दे मातरम्' मन्त्र के रूप में बाहर आया, उस मन्त्र में वह शक्ति सन्निहित हुई जिसने भारत को इतनी विपदाओं के बीच पार करा कर स्वतन्त्रता का प्रकाश दिलाया, उस मन्त्र में वह तेज आया कि सोये हुए मृतप्राय भारत को भारतमाता की याद हो आयी और उस भारत को अपने दिव्य स्वप्नों में अपनी मां के दर्शन हुए।

क्या हमें अब उस शक्ति की, उस तेज की आवश्यकता नहीं रह गयी? क्या अब वह मन्त्र हमारे लिए सार्थक नहीं रहा? क्या हमें अब अपनी मां की वन्दना करना नहीं भाता? मां को भूलने का परिणाम हम भुगत चुके हैं। क्या वह हमारे लिए काफी नहीं?

हम उन लोगों से बिलकुल ही सहमत नहीं हैं जो 'जन गण मन' पर इस प्रकार

गंदे आरोप लगाते हैं कि जार्ज पंचम के आगमन पर उनकी स्तुति के रूप में यह गान रचा गया था। रवीन्द्रनाथ जैसे व्यक्ति के गीत के विषय में ऐसी बातें कहना उनका अपमान करना ही होगा। 'जन गण मन' का भाव उच्चकोटि का है, कविता के गुण उस में विद्यमान हैं, संगीत की धारा उस में बहती है। सही परन्तु उसमें निश्चय ही वह चीज नहीं है जो कि 'वन्दे मातरम्' में है, उसमें न वह मधुरिमा ही है और न वह शक्ति और तेज ही। भारत की सनातन मूल आत्मा की अभिव्यक्ति 'वन्दे मातरम्' में हुई है, 'जन गण मन' में नहीं।

इसके अतिरिक्त शुद्ध कविता की दृष्टि से भी देखा जाय तो जो द्रष्टा कवियोचित सत्यता, गभीरता एवं व्यापकता, जो प्रवाह 'वन्दे मातरम्' में है, वह रवि बाबू के गान में नहीं। 'वन्दे मातरम्' में हमारे अन्तरात्मा के गभीरतम अन्तस्तल को स्पर्श करने वाली, हमारी समस्त सत्ता मत्ता के सारे तारों को हिला देने वाली जो चीज है वह 'जन गण मन' में नहीं।

'वन्दे मातरम्' के विरुद्ध एक ही बात कही गयी है, वह यह कि संगीत की दृष्टि से, आरचेस्ट्रा की दृष्टि से, सामूहिक गान की दृष्टिसे यह खरा नहीं उतरता, और 'जन गण मन' में यह गुण है। केवल इस छिछोरी दलील पर ऐसा महत्वपूर्ण निर्णय कर लेना कदापि बुद्धिमानी की बात नहीं। क्या 'वन्दे मातरम्' बड़ी-बड़ी सभाओं में, लाखों के समूहों में, सफलतापूर्वक नहीं गाया गया? 'वन्दे मातरम्' की स्वर-लहरी इतने बड़े-बड़े जन-समूहों को किस भांति मन्त्रमुग्ध करती रही, इस बात की हम क्यों उपेक्षा करते हैं? और फिर, यदि हम यह समझ बैठें कि यह गान एक ही प्रकार से गाया जा सकता है, इसकी अन्य अधिक सफल विधियों की ओर कान ही न दें, तो यह किसका दोष है?

'मा' कार्यालय के लिए कान्तिलाल झुनझुनवाला द्वारा सर्वोदय प्रेस, ७ कैनिंग स्ट्रीट, कलकत्ता से मुद्रित और प्रकाशित। सम्पादक—श्यामसुन्दर झुनझुनवाला।

श्रीअरविन्द के दर्शन और योगसे संबंधित हिन्दी पुस्तकें

श्रीमाताजी द्वारा लिखित :

मातृवाणी (१म भाग)	२- ४-०
,, (२य भाग)	०- ८ ०
सर्वोत्तम आविष्कार	० ६-०
वार्षिक प्रार्थनाएं	०- २ ०
श्रीमातृमुक्तावली (संस्कृत)	०- ८ ०

श्रीअरविन्द द्वारा लिखित :

गीता-प्रबंध	६- ८-०
योगके आधार	०- ८-०
माता	०-१२-०
योग-प्रदीप	१- ० ०
इस जगतकी पहेली	१- ४-०
हमारा योग और उसके उद्देश्य	०-१२-०
उत्तरपाड़ा-अभिभाषण	०- ६-०
जगन्नाथका रथ	०-१२-०
श्रीअरविंदके पत्र	०- ८-०
धर्म और जातीयता	१- ८-०
गीता की भूमिका	१-१२-०
श्रीअरविन्दका आश्रम और उनकी शिक्षा	०- ४-०
कतिपय संदेश (श्री मां तथा अरविन्दके)	०- ४-०
विचार और झांकियां	०-१२-०
दयानन्द	०-१२-०
चार साधन	० ८-०
कर्मयोगी	२- ८-०
वेद-रहस्य (१म भाग)	८ ०
(सजिल्द)	६
,, (२य भाग)	
(सजि	

पत्रिकाएं :

अर्चना (सचित्र वार्षिक) प्रत्येक संख्या (डाकखर्च सहि

अदिति (सचित्र त्रैमासिक) (वार्षि

मिलनेके

(१) अरविन्द-ग्रन्थमाला

(२) आर्य पब्लिशिंग

हे प्रभु ! तेरी शान्ति को हम चाहते हैं, शान्ति की किसी छायामूर्त्ति को नहीं, तेरी स्वतन्त्रता को हम चाहते हैं, स्वतन्त्रता की किसी छायामूर्त्ति को नहीं। तेरी एकता को हम चाहते हैं, एकता की किसी छायामूर्त्ति को नहीं। कारण, एकमात्र तेरी शान्ति, तेरी स्वतन्त्रता और तेरी एकता ही उस अन्धी उद्दंडता, छल-कपट, और मिथ्याचार को जीत सकती हैं जो अभी तक पृथ्वी पर राज्य कर रहे हैं......'

—*श्री मां*